थोड़े से छात्र ज्योतिष वा पुराण का अनुशीलन भी करते थे। इस काल के परवर्ती काल में मन्त्रशास्त्र तथा भक्ति-शास्त्र की चर्चा भी शुरू हुई थी। जिसको जिस शास्त्र में रुचि होती थी वह वही पढ़ता था, कुछ रोक-टोक नहीं थी। मेधावी छात्रगण क्रमशः व्याकरण, काव्य, स्मृति, न्याय, ज्योतिष इत्यादि सभी शास्त्रों की आलोचना करते थे। वेद के मन्त्र-भाग तथा ब्राह्मण-भाग की चर्चा यहाँ पर कभी होती थी या नहीं इसका पता नहीं चलता। परन्तु न्याय की पढ़ाई के लिए ही नवद्वीप की प्रसिद्धि थी। भारत के दूर दूर प्रान्तों से न्याय-शास्त्र पढ़ने के लिए यहाँ विद्यार्थी समवेत होते थे।

प्रत्येक अध्यापक अपने छात्रों को भोजन तथा वास-स्थान देता था। वस्त्रादि और रात को पढ़ने के लिए तेल का दाम छात्र अपने घर से लाते थे। कभी कभी उनको दयालु नगरवासियों के घर निमन्त्रण वा आगन्तुक सज्जनों के धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर वस्त्र या रजत-खण्ड मिल जाता था। अधिकांश छात्र दरिद्र थे। दारिद्र्य के कष्ट झेलते हुए भी वे अपने को नवद्वीप के इस महान् विद्वत्-समाज के अंगीभूत समझकर गर्व अनुभव करते थे, और भविष्य-जीवन में इस काल की स्मृति उनके लिए सुखदायक होती थी।

इसी वातावरण में भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यदेव का जन्म हुआ था और इसी वायुमण्डल में वे पालित तथा शिक्षित हुए थे। पण्डित गंगादास के टोल (पाठशाला) में प्रविष्ट होकर निमाई (श्री चैतन्यदेव) ने व्याकरण की पढ़ाई आरम्भ की थी। व्याकरण समाप्त कर उन्होंने न्यायशास्त्र पढ़ने के लिए वासुदेव सार्वभौम के टोल में प्रवेश किया था। उस समय रघुनाथशिरोमणि जिन्होंने पीछे मिथिला का गर्व खर्व किया था, इस चतुष्पाठी के प्रधान छात्र थे। किन्तु इस बालक निमाई की सर्वतोमुखी प्रतिभा के सामने उनकी असाधारण प्रतिभा भी म्लान-सी हो गई थी।

बीस बरस की अवस्था में निमाई ने अध्यापन के लिए एक चतुष्पाठी खोल दी। शीघ्र ही इस तरुण अध्यापक के पाण्डित्य और प्रतिभा की ख्याति चारों ओर फैल गई, और थोड़े ही समय में उनका टोल छात्रों से भर गया।

इसी समय एक दिग्विजयी पण्डित नवद्वीप में पधारे थे। उनकी कल्पना थी कि नवद्वीप का यशोहरण कर वे विद्याराज्य में एकच्छत्र अधिपति हों। नवद्वीप के जितने नवीन और प्रवीण अध्यापक थे सब भयभीत हो गये और सोचने लगे कि हाय ! नवद्वीप की इतने दिन की प्रतिष्ठा अब जाती है। दिग्विजयी पण्डित के साथ गंगातीर पर निमाई की भेंट हुई। दोनों में शास्त्रार्थ हुआ और दिग्विजयी हार कर भागे। निमाई के द्वारा नवद्वीप की मर्यादा की रक्षा हुई। अब से निमाई नवद्वीप के प्रधान पण्डितों में गिने जाने लगे।

इन तरुण अध्यापक की अनन्य साधारण प्रतिभा देख-कर जब नवद्वीप की पण्डित-मण्डली चकित हो रही थी तब उन्होंने सहसा एक दिन धर्माचरण में मनोनिवेश किया। बहुत श्रद्धा के साथ श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ने में और भक्त साधु-सज्जनों के साथ भक्ति-विषयक आलाप में वे कालातिपात करने लगे। धीरे-धीरे उनमें प्रेमोन्माद के लक्षण दिखाई दिये। जब कभी वे चतुष्पाठी में छात्रों को पाठ देते थे तब व्याकरण वा तर्कशास्त्र के सूत्र समझाने में भी अपनी प्रेम से रँगी व्याख्या देने लगे। कुछ समय के बाद छात्रों से विदा होकर वे कृष्ण-प्रेम-रस में निमज्जित रहने लगे। उनके कुछ छात्रों ने प्रेम-मार्ग का अवलम्बन कर उनका अनुसरण किया। उनको लेकर उन्होंने नाम-भजन आरम्भ किया। यह समाचार नवद्वीप की पण्डित-मण्डली में पहुँचा, और श्रीवासादि भक्तगण इनसे मिलकर नाम-संकीर्तन करने लगे और सभों ने मिलकर एक भक्त-समाज की प्रतिष्ठा की। इस समाज के अधिवेशन श्रीवास के घर में होते थे, इसलिए यह समाज 'श्रीवास-अंगन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तब से भक्तगण श्रीवास-अंगन में निमाई के साथ मिलते थे और नाम-भजन में शामिल होते थे। निशा-काल उच्च कण्ठोत्थित हरि-कीर्तन और उद्दाम नृत्य में कटता था। प्रायः भक्तगण नाम-कीर्तन करते हुए नगर की गलियों में घूमते थे। निमाई का भक्ति-भाव देखकर नवद्वीप-नगर के नर-नारीगण विस्मित हो जाते थे।

चार बरस तक नगर के प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार से मोहित कर एक दिन विधवा माता और युवती पत्नी को रोलाकर नवद्वीप से १६ कोस उत्तर भागीरथी-तीरस्थ कट्वा नगर में जाकर २४ वर्ष की अवस्था में निमाई ने संन्यास ग्रहण किया और तीर्थ-भ्रमण के लिए चल पड़े। उनका गुरुदत्त नाम था श्रीकृष्ण चैतन्य, और अब से इसी नाम से अथवा संक्षिप्त चैतन्य महाप्रभु के नाम से उनका उल्लेख होने लगा।

वासुदेव सार्वभौम के मिथिला से लौटने के बाद ही नवद्वीप के मानसिक उन्मेष को एक वेग मिला था, जिसको रघुनाथ शिरोमणि ने मिथिला के यशोहरण के द्वारा और भी प्रबल कर दिया। चैतन्यदेव की अलौकिक धीशक्ति, आदर्श चरित्र-माधुर्य और अनन्य-साधारण भक्ति ने परवर्ती प्रगति की बहुत सहायता की। महाप्रभु के प्रवर्तित धर्म ने जातिभेद-प्रथा को शिथिल कर दिया और रघुनाथ की चिन्ता-प्रसूत नव्य-न्याय ने एक प्रकार से देश को नास्तिकता की ओर झुका दिया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों के संस्पर्श से हिन्दू-समाज में उलट-पलट आरम्भ हुआ? इन अमंगलों से बचे रहने के लिए दृढ़ भित्ति पर हिन्दू-समाज का पुनर्गठन, और इसको सिद्ध करने के लिए धर्म-शास्त्र का उपयोगी संस्कार आवश्यक हुआ। इस अभाव को दूर करने के लिए नवद्वीप में इसी समय एक अशेष मनीषा-सम्पन्न सर्वशास्त्रवित् महात्मा का आविर्भाव हुआ, जिसका नाम था रघुनन्दन स्मार्त भट्टाचार्य। इनकी प्रदर्शित आचार-पद्धति ने उस समय वंगीय हिन्दू-समाज को भावी विप्लव से बचाया। अतएव देखा जाता है कि वासुदेव सार्वभौम के समय से रघुनन्दन भट्टाचार्य के समय तक का युग नवद्वीप का चरम उत्कर्ष का युग था।

इस समय से नवद्वीप में जो वायु-मण्डल गठित हुआ था उसके प्रभाव से यहाँ के शिक्षा पानेवाले अधिकांश छात्रों तथा उनके अध्यापकों की मानसिक वृत्तियों में एक ऐसी तीक्ष्णता, ओजस्विता और यशोलिप्सा आ गई थी जिसके कारण वे अपनी अपनी चिन्ता-धारा को नये-नये खातों में प्रवाहित करने को उत्सुक हुए। नैयायिकों में यह आग्रह विशेषकर उत्पन्न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि न्याय-ग्रन्थों की असंख्य टीकायें टिप्पणियाँ, भाष्य, टीका की टीकायें, भाष्य की टीकायें, टिप्पणी की टीकायें बनने लगीं। ग्रन्थकारों ने अपने अपने ग्रन्थों में नये-नये तथ्यों का भी समावेश किया। अधिक धीशक्ति-सम्पन्न पण्डितों ने मौलिक पुस्तकें भी लिखीं, जैसे तर्क-संग्रह, भाषा-परिच्छेद, सिद्धान्त-मुक्तावली, शब्द-शक्ति-प्रकाशिका इत्यादि। यह विराट् ग्रन्थ-रचना-कार्य कई पीढ़ियों तक चलता गया, और अन्त में एक विस्मयकर अति दुरूह शास्त्र पूर्णतया गठित हुआ जिसका नाम है नव्य-न्याय वा तर्कशास्त्र।

गंगेश उपाध्यायकृत तत्व-चिन्तामणि ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। नव्य-न्याय ने मान लिया है कि मनुष्य के ज्ञान को केवल इन्हीं चार उपायों से निश्चयता प्राप्त होती है। ये ही चार प्रमाण हैं। जिसके द्वारा वस्तुओं की यथार्थता का अनुभव होता है वही प्रमाण है। चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष-ज्ञान है। प्रत्यक्ष-ज्ञान से अप्रत्यक्ष के विचार-सिद्ध अनुमान को अनुमिति-ज्ञान कहते हैं। सादृश्य से उत्पन्न ज्ञान को उपमिति-ज्ञान कहते हैं। आप्त अर्थात् विश्वस्त, पुरुष के वाक्यों से शब्द-ज्ञान होता है। नव्य-न्याय में ये ही चार प्रमाण अति विशदता से परिस्फुट किये गये हैं। साथ साथ साम्प्रकिक विषयों की भी आलोचना है। एक उदाहरण से नव्य-न्याय का महत्त्व स्पष्ट होगा। चिन्तामणि के अनुमान-खण्ड में तेरह प्रकरण हैं। उनमें से द्वितीय प्रकरण के सात परिच्छेदों में "व्याप्ति" (Induction) के सूत्र हैं। इस द्वितीय प्रकरण के प्रथम परिच्छेद-मात्र का अवलम्बन कर रघुनाथ शिरोमणि ने अपनी 'दीधिति' नामक टीका और मथुरानाथ तर्कवागीश ने 'रहस्य' नामक टीका लिखी है। इस न्याय-शास्त्रांश को 'व्याप्ति-पञ्चक' कहते हैं। 'व्याप्ति-पञ्चक' पर अनेक पण्डितों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। एक 'व्याप्ति' पर ही इतने ग्रन्थ लिखे गये हैं कि उनसे एक छोटी-सी कोठरी भरी जा सकती है। संवत् ११६५ में मिथिला में गंगेश का आविर्भाव हुआ था। नव्य-न्याय गौतम के न्याय-दर्शन और कणाद के वैशेषिक-दर्शन पर प्रतिष्ठित है।

प्राचीन काल से नव्य-न्याय का विकास जिस क्रम से हुआ है वह यह है—पहले व्योमशिवाचार्य लिखित 'सप्त-पदार्थी'। उसके बाद इस विषय के लेखक क्रम से ये हैं—श्रीधर, उदयन, वल्लभ, मिथिला के गंगेश, वर्द्धमान, यज्ञपति, पक्षधर, वासुदेव, रुचिदत्त, महेशठाकुर और नवद्वीप के वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ, मथुरानाथ, भवानन्द, जगदीश, गदाधर इत्यादि पण्डितवर्ग। व्योमशिव का आविर्भाव-काल विक्रम की चतुर्थ शताब्दी से लेकर सप्तम शताब्दी के भीतर है। गंगेश की तत्व-चिन्तामणि ही परवर्ती लेखकों की मूलभित्ति है।

नव्य-न्याय की प्रधान विशिष्टता यह है कि इसमें सात पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। इसमें कणाद के वैशेषिक दर्शन के छः पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष

और समवाय, और एक अतिरिक्त पदार्थ अभाव मान लिये गये हैं। नव्य-न्याय के प्राचीन लेखकों ने, खासकर गंगेश ने, जिन विषयों का इंगितमात्र किया है, नवद्वीप के नैयायिकों ने उनका, जहाँ तक सम्भव हो सका वहाँ तक, विश्लेषण कर एक एक विषय पर असंख्य पुस्तकें लिख के इस शास्त्र की पूर्णता सम्पादन की है। मिथिला में भी नव्य-न्याय- राज्य का ऐश्वर्य थोड़ा सुरक्षित न हुआ था। दीर्घकाल पहले से ही नवद्वीप में न्याय चर्चा के रहते हुए भी रघुनाथ ने ही न्यायशास्त्र में नवद्वीप का प्राधान्य स्थापित किया था, और उनके समय यहाँ वही प्रधान नैयायिक माने जाते थे। तब से नवद्वीप के नैयायिक समाज में प्रधान नैयायिक की मृत्यु के बाद यहाँ के सबसे विद्वान् अध्यापक ही प्रधान के पद पर निर्वाचित होते आये हैं। रघुनाथ के बाद उनके वंश के कोई न कोई इस राज्य पर आधिपत्य करते गए। रघुनाथ के पुत्र का नाम रामभद्र सार्वभौम था।

१९३१

आत्म-निवेदन

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

जीवन-कथा

मैं क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। परन्तु मैं क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रों और कृपालु हितैषियों को बहुत ही कम है। उन्होंने मुझे अनेक पत्र लिखे हैं; अनेक उलाहने दिये हैं, अनेक प्रणयानुरोध किये हैं; वे चाहते हैं कि मैं अपनी जीवन-कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्ण-रूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझमें नहीं। अपनी कथा कहते मुझे संकोच भी बहुत होता है। उसमें कुछ तत्त्व भी तो नहीं। उससे कोई कुछ सीख भी तो नहीं सकता। तथापि जिन सज्जनों ने मुझे अपना कृपापात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी धृष्टता होगी। अतएव, इस अवसर पर, मैं अपने जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बातें, सूत्ररूप में सुना देना चाहता हूँ। बड़े बड़े लोगों ने, इस विषय में, मेरे लिए मैदान पहले ही से साफ भी कर रक्खा है। मेरी इस कथा से यह फलप्राप्ति भी हो सकती है कि आज आप जिसका इतना अभिनन्दन कर रहे हैं वह उस अभिनन्दन का कहाँ तक पात्र है।

मैं एक ऐसे देहाती का एक-मात्र आत्मज हूँ जिसका मासिक वेतन सिर्फ १०) था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर, १३ वर्ष की उम्र में, मैं ३६ मील दूर, रायबरेली के जिला-स्कूल में अँगरेजी पढ़ने गया। आटा-दाल घर से पीठ पर लाद कर ले जाता था। दो आने महीने फीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियायें पका कर पेटपूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। संस्कृत-भाषा उस समय उस स्कूल में वैसी ही अछूत समझी गई थी जैसी कि मदरास के नम्बूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्रजाति समझी जाती है। विवश होकर अँगरेजी के साथ फारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ कटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।

रेलवे में नौकरी

एक साल अजमेर में १५) महीने पर नौकरी करके, पिता के पास बम्बई पहुँचा और तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे में, २०) महीने पर तारबाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षित जनों की संगति करने की ओर थी। दैवयोग से हरदा और हुशंगाबाद (म०प्र०) में मुझे ऐसी संगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धान्त या आदर्श निश्चित किये। यथा (१) वक्त की पाबन्दी करना, (२) रिश्वत न लेना, (३) अपना काम ईमान-

दारी से करना, और (४) ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था; पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था। तथापि सतत अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू हो कर भी, टिकटबाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेट-लेयर (Permanent Way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नज़र मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे छोड़कर मुझे कभी तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी। जब इंडियन मिडलैंड रेलवे बनी और उसके दफ्तर झाँसी में खुले तब जी० आई० पी० रेलवे के मुलाजिम जो साहब वहाँ के जनरल ट्राफिक मैनेजर मुकर्रर हुए वे मुझे भी अपने साथ झाँसी लाये और नये नये काम मुझसे लेकर मेरी पदोन्नति करते गये। इस उन्नति का प्रधान कारण मेरी 'ज्ञानलिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुण-ग्राहकता थी। दस-बारह वर्ष बाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब इंडियन मिडलैंड रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई तब कुछ दिन बम्बई में रहकर मैंने अपना तबादिला झाँसी को करा लिया। वहीं रहना मुझे अधिक पसन्द था। पाँच वर्ष मैं वहाँ डिस्ट्रिक्ट ट्रॉफिक सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में रहा। वे दिन मेरे अच्छे नहीं कटे। लार्ड कर्जन का देहली-दरबार उसी जमाने में हुआ था। मेरे गौरांग प्रभु अपनी रातें अपने बँगलों या क्लब में बिताते थे। मैं दिन भर दफ्तर का काम करके रात भर, अपनी कुटिया में पड़ा हुआ, उनके नाम आये हुए तार लेता और उनके जवाब देता था। ये तार उन स्पेशल रेलगाड़ियों के सम्बन्ध में होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौड़ा करती थीं। उन चाँदी के टुकड़ों की बदौलत जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किये गये इस अत्याचार को महीनों बरदाश्त किया।

नौकरी से इस्तीफा

मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूँ तो उससे मेरी सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है; पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। परन्तु कुछ समयोत्तर बानक कुछ ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर भी अत्याचार कराना चाहा। हुक्म हुआ कि तुम इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह ८ बजे दफ्तर में आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज मेरे मेज पर मुझे रक्खे मिलें। मैंने कहा—मैं आऊँगा; पर औरों को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है। बस बात बढ़ी और बिला किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं; सिफारिशें तक की गईं। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापस ले लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्ण होकर कहा—"क्या थूककर भी कोई उसे चाटता है?" मैं बोला—नहीं, ऐसा कभी न होगा; तुम धन्य हो। तब उसने तो ॥) रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह-कार्य चलाने का दृढ़ संकल्प किया और मैंने "सरस्वती" की सेवा से मुझे हर महीने जो २०) उजरत, और ३) डाकखर्च की आमदनी होती थी उसी से सन्तुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा—किसी समय तो मुझे महीने में १५) ही मिलते थे; २३) तो उसके ड्योढ़े से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नहीं।

मेरे पूर्वज

मेरे पिता ईस्ट इंडिया कम्पनी की एक पलटन में सैनिक या सिपाही थे। मामूली हिन्दी पढ़े थे। बड़े भक्त थे। सिपाहियाने काम से छुट्टी पाने पर राम-लक्ष्मण की पूजा किया करते थे। इसी से साथी सिपाहियों ने उनका नाम रक्खा था—लछिमन जी। गदर में पिता की पलटन बागी हो गई। जो बच निकले वे बच गये; बाकी जवान तोपों से उड़ा दिये गये। पलटन उस समय होशियारपुर (पंजाब) में थी। पिता ने भाग कर अपना शरीर सतलज की वेगवती धारा को अर्पण कर दिया। एक या दो दिन बाद, बेहोशी की हालत में, सैकड़ों कोस दूर, आगे की तरफ, कहीं वे किनारे लग गये। होश आने पर सँभले और हरी-हरी मोटी घास के तिनके चूस-चूसकर कुछ शक्ति सम्पादन की। माँगते-खाते, साधु-वेश में, कई महीने

बाद, वे घर आये। घर पर कुछ दिन रह कर, इधर-उधर भटकते हुए, वे बम्बई पहुँचे। वहाँ वल्लभ-सम्प्रदाय के एक गोस्वामी जी के यहाँ वे नौकर हो गये। इस तरह वहाँ भी उन्हें ठाकुर जी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे समर्थ होने तक वे इसी सम्प्रदाय के गोस्वामियों की मुलाजिमत में रहे। फिर सदा के लिए उसे छोड़ कर घर चले आये।

मेरे पितामह अलबत्ते संस्कृतज्ञ थे और अच्छे पण्डित भी थे। बंगाल की छावनियों में स्थित पलटनों को वे पुराण सुनाया करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेच कर मेरी पितामही ने मेरे पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो-चार पुस्तकें मुझे भी घर में पड़ी मिलीं।

मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाम-मात्र को हिन्दी क्या कैथी जानते थे। पर उनमें नये नये किस्से बनाकर कहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली जिले में दीनशाह के गौरा के तत्कालीन तअल्लुकेदार, भूपालसिंह, के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे।

मेरे नाना और एक मामा भी संस्कृतज्ञ थे। मामा की संस्कृतज्ञता का परिचय स्वयं मैंने, उनके पास बैठकर, प्राप्त किया था।

साहित्य-प्रेम

नहीं कह सकता, शिक्षाप्राप्ति की तरफ प्रवृत्त होने का संस्कार मुझे किससे प्राप्त हुआ—पिता से या पितामह से या मातामह से या अपने ही किसी पूर्व-जन्म के कृत कर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और व्रजवासीदास के व्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कण्ठ कर लिये थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचनसुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों का त्यों रहा। झाँसी आने पर जब मैंने, पण्डितों की कृपा से, प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छन्दोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य में कुछ न कुछ लिखना जारी रक्खा। संस्कृत और अँगरेजी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किये।

इंडियन प्रेस से परिचय

जब मैं झाँसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमें बहुत-से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनायें प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिख कर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था, प्रयाग का इंडियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इंडियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने "सरस्वती" पत्रिका का सम्पादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा। किसी ने लिखा—मैं तुम्हारे साथ बैठकर संस्कृत पढ़ूँगा। किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिए एक छापाखाना खुलवा दूँगा—इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके साहाय्यदान की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा—अव्यवस्थित-चित्त मनुष्य की सफलता में सदा सन्देह रहता है। क्यों न मैं अंगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ? प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव "सब तज, हरि भज" की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इंडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा-बहुत अवकाश कभी मिलता तो उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के

कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से "सम्पत्ति-शास्त्र" नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।

सरस्वती के सम्पादन में मेरे आदर्श

सरस्वती के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किये। मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबन्दी करूँगा; (२) मालिकों का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूँगा; (३) अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा खयाल रक्खूंगा और (४) न्याय-पथ से कभी न विचलित हूँगा। इसका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, संक्षेप में, सुन लीजिए—

१—सम्पादक जी बीमार हो गये,; इस कारण "स्वर्ग-समाचार" दो हफ्ते बंद रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक-प्रस्थान कर गये; लाचार "विश्व विमोहिनी" पत्रिका देर से निकल रही है। "प्रलयंकरी" पत्रिका के विधाता का फौंटेनपेन टूट गया। उसके मातम में १३ दिन काम बन्द रहा। इसी से पत्रिका के प्रकटन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई। क्या किया जाता। "त्रिलोकमित्र" का यह अंक, इसी से, समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणायें मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा—मैं इन बातों का कायल नहीं। प्रेस की मशीन टूट जाय तो उसका जिम्मेदार मैं नहीं। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होमकर किया। चाहे पूरा का पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँ तक किया कि कम से कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रक्खी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ तो क्या हो? सरस्वती का प्रकाशन तब तक बन्द रखना क्या ग्राहकों के साथ अन्याय करना न होगा? अस्तु, मेरे कारण, सोलह सत्रह वर्षों के दीर्घ काल में, एक बार भी सरस्वती का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा तब भी मैंने नये सम्पादक को बहुत से बचे हुए लेख अर्पण किये। आप विश्वास कीजिए, उस समय के उपार्जित और अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

२—मालिकों का विश्वासभाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई। सरस्वती के जो उद्देश थे उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफे अलबत्ते मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के बँगले पर हाज़िर होना पड़ा। पर मैं भूल से तलब किया गया था। एक गैर कानूनी लाटरी का विज्ञापन सरस्वती में निकल गया था। उसी के सम्बन्ध में मैजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली। क्योंकि विज्ञापनों की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से सरस्वती का प्रचार जैसे जैसे बढ़ता गया और मालिकों का मैं जैसे जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया, वैसे ही वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया और मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवंगत बाबू चिन्तामणि घोष की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होंने मेरे सम्पादन-स्वातन्त्र्य में कभी बाधा नहीं डाली; वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे; और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते हैं।

३—इस समय तो कितनी ही महारानियाँ तक हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं; पर उस समय एक-मात्र सरस्वती ही पत्रिकाओं की रानी नहीं, पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छपाना या किसी के जीवन-चरित आदि प्रकाशन कराना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिये जाते थे। कोई कहता—मेरी मौसी का मरसिया छाप दो; मैं तुम्हें निहाल कर दूंगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई, अमुक सभापति की "स्पीच" छाप दो; मैं तुम्हारे गले में बनारसी डुपट्टा डाल दूंगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नज़र की जायगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश-महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हजम कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और सरस्वती में वही मसाला जाने देता जिससे मैं पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी रुचि का सदैव खयाल रखता और यह देखता रहता कि

मेरे किसी काम से उनको, सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन-द्वारा लेखों की भाषा अधिक संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का, या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

४—सरस्वती में प्रकाशित मेरे लघु लेखों (नोटों) और आलोचनाओं ही से सर्वसाधारण जन इस बात का पता लगा सकते हैं कि मैंने कहाँ तक न्याय्य-मार्ग का अवलम्बन किया है। जान-बूझकर मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया। न किसी के प्रसाद की प्राप्ति की आकांक्षा की, न किसी के कोप से विचलित ही हुआ। इस प्रान्त के कितने ही न्यायनिष्ठ सामाजिक सत्पुरुषों ने सरस्वती का जो "बायकाट" कर दिया था वह मेरे किस अपराध का सूचक था, इसका निर्णय सुधीजन ही कर सकते हैं।

१९३३

* * *

कल्हण की राजतरंगिणी

श्री आर० एस० पण्डित

राजतरंगिणी का लिखा जाना सन् ११४८ में शुरू किया गया था और वह सन् ११४९ में लिखी जाकर पूरी हो गई। अर्थात् दिल्ली में मुसलमानों का शासन स्थापित होने और दिल्ली के अन्तिम हिन्दू-राजा पृथ्वीराज चौहान की समाप्ति के लगभग ५० वर्ष पहले उसका प्रणयन हो चुका था। इस प्रकार यह प्राचीन ग्रन्थ हिन्दू चाल-ढाल और सदाचार का दर्पण है। यद्यपि यह ग्रन्थ कश्मीर का इतिहास है, परन्तु वास्तव में यह, सारे भारत की हिन्दू-संस्कृति, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन एवं कला तथा शिल्प का इतिहास है। इसमें बर्फ मिलाये हुए पेयों, सार्वजनिक स्नानागारों और उष्ण जल के स्नानागारों, संगीत एवं नृत्यों का उल्लेख किया गया है। इसमें अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन है जो बहुत मनोरंजक हैं तथा जिन से इस ग्रन्थ को आधुनिकता प्राप्त हो जाती है। कुप्रबन्ध की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए या राजनैतिक उद्देश की सिद्धि के लिए किसी एक व्यक्ति का या व्यक्तियों के समूह का उपवास करना सदा उपयोग में लाया जाता था। इस तरह की भूख-हड़ताल जब कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह करने को बैठता था, 'प्रायोपवेश' कहलाती थी। उस ग्रन्थ में अछूतों के सम्बन्ध में उल्लेख है। कश्मीर का एक राजा एक अछूत स्त्री से विवाह करता है, अपनी इस रानी को उच्च स्थान प्रदान करता है, यहाँ तक कि उसको अपनी सब रानियों से उच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है। यह ध्यान देने की बात है कि राजा ने इस स्त्री को पहले-पहल नर्तकी के रूप में देखा था, जो अपने प्रसिद्ध गायक पिता के साथ राजधानी को गई थी और जिसने सार्वजनिक नृत्यशाला में नृत्य किया था और गाया था। रानी के रूप में यह नर्तकी कन्या धूम-धाम के साथ दर्शनार्थ उन देव-मन्दिरों को जाती थी जो भारत की पवित्र भूमि कश्मीर में विशेषरूप से पवित्र माने जाते थे। इसके बाद राजा ने उस अछूत स्त्री के भिन्न-भिन्न सम्बन्धियों को भिन्न-भिन्न विभागों के मन्त्रियों के पद प्रदान किये। यह भी नोट करने की बात है कि उन दिनों अछूत संगीतज्ञों के रूप में राजकीय अभ्यर्थना-भवन तक प्रवेश कर सकते थे, और सैनिक जीवन तो सभी अछूतों के लिए खुला हुआ था। ये लोग केवल सैनिक ही नहीं होते थे, किन्तु कोशागार के रक्षक भी होते थे। कल्हण ने इस राजा के कामों का विरोध करते हुए ही उनका उल्लेख किया है। परन्तु कल्हण की यह असम्मति केवल राजा और उसके समकालीनों को ही मान्य नहीं थी, किन्तु उस अछूत स्त्री के प्रेमी के उत्तराधिकारी यशस्कर को भी मान्य नहीं थी। यह राजा यशस्कर एक विद्वान ब्राह्मण था और उन धर्माचार्य ब्राह्मणों-द्वारा कश्मीर का

राजा मनोनीत किया गया था जो राजा चुनने के लिए एकान्त स्थान में एकत्र हुए थे। कल्हण यह बात यशस्कर के दोष के रूप में उल्लेख करता है कि उसने राजमहल के उन नौकरों को पदच्युत नहीं किया जो अछूतों का उच्छिष्ट भोजन खाने से भ्रष्ट हो गये थे। जैसा कि प्रगट होता है, उस समय अछूतपन अस्तित्व में था, किन्तु उस रूप में नहीं था जो बाद को उसने प्राप्त किया।

मालूम पड़ता है, भारत में शासन पर प्रभाव डालने के रूप में उपवास करने की बहुत प्राचीन प्रथा रही है। रामायण का यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है कि एक ब्राह्मण जिसका पुत्र मर गया था, राम के द्वार पर मृत्यु-पर्यन्त भूखा रहने को बैठ गया था। उसने यह दोषारोप किया था कि उसके जवान पुत्र की मृत्यु का कारण राजा के कुशासन को छोड़कर और कुछ नहीं हो सकता। इस घटना का राजतरंगिणी में भी उल्लेख हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कश्मीर में भूख-हड़ताल के अधिकारी नियुक्त थे, जिनका काम राजा को उन भूख-हड़तालों की घटनाओं की रिपोर्ट करना था जो असन्तोष, भ्रामक न्याय तथा दूसरे कारणों से प्रारम्भ की जाती थीं। मालूम पड़ता है कि बुद्धि की अपेक्षा भाव पर प्रभाव डालना इस देश का पुराना रोग है।

यह बात प्रायः कही गई है कि क्रान्तिमूलक अपराध इस देश में पाश्चात्य देशों से लाये गये हैं। राजतरंगिणी में एक अति प्रसिद्ध विद्वान् घराने के एक नवयुवक ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है। इसने एक ऐसा अपराध किया था जो आधुनिक भाषा में त्रासकारी अपराध कहा जायगा। यह मालूम पड़ता है कि कल्हण ने इस युवक के इस कार्य का समर्थन नहीं किया। राज्य के एक ऐसे अधिकारी को इसने दण्ड दिया था जिसके कुप्रबन्ध के कारण ब्राह्मणों को भूख-हड़ताल करनी पड़ी थी और इस सिलसिले में उनमें से कुछ आग तक में जल मरे थे। जहाँ तक इस युवक के कार्य से सम्बन्ध है, इसका जो वर्णन किया गया है वह आधुनिक काल के अखबार की किसी दुर्घटना की रिपोर्ट जैसा ही है।

यह ध्यान देने की बात है कि राजतंत्र के भाव में बड़ा परिवर्तन हो गया था। राजतरंगिणी के प्रारम्भिक भाग में राजतंत्र दैवी-भाव-सम्पन्न व्यक्त किया गया है। किन्तु पुस्तकान्त में पाठकों को राजा हर्ष का चरित प्राप्त होता है, जिसका प्रजाजनों ने वध कर दिया था। हर्ष स्वयं मूर्तिभंजक था। इस सम्बन्ध में कल्हण ने कहा है कि अब वह समय आ गया है जब देवताओं की मूर्तियाँ अपने आसन से उखाड़ फेंकी जातीं और राजाओं के सिर उनके शरीर से अलग किये जाते कोई भी देख सकता है। राजाओं के जुलूसों और राज-घरानों के युद्धों के साधारण उल्लेखों के सिवा उसमें मुकदमे की निर्णय-सम्बन्धी घटनाओं अकाल तथा लोगों की आर्थिक दशा के भी उल्लेख किये गये हैं। वह शूरता का युग था। जिरह-बख्तर और युद्ध के शस्त्रास्त्र बनाने की कला का उस काल में बहुत अधिक विकास हुआ होगा। इसका समर्थन फिरदौसी के शाहनामे से भी होता है, जिसमें उसने लिखा है कि प्राचीन ईरान के योद्धाओं के सारे अद्भुत अस्त्र-शस्त्र कन्नौज तथा भारत के दूसरे स्थानों से आते थे। भारत की उन लम्बी और छोटी तलवारों पर जिनका बाद के समय में समुराई लोग उपयोग करते पाये गये हैं, १३ वीं सदी तक संस्कृत के वचन अंकित रहे हैं। इसी प्रकार कल्हण ने कश्मीरियों की जिस फौजी पोशाक का 'वीरपट्ट' के नाम से उल्लेख किया है वह भी बड़े महत्त्व की बात है। मध्य-एशिया में तुखार लोगों की जो भूमि थी वह एक अत्यन्त उन्नत देश था और वहाँ संस्कृत-दर्शन और बौद्ध-धर्म अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँचे हुए थे। इन सबका विवरण चीनी यात्री फाहियन और ह्वेन सियांग ने दिया है, जो इस्लाम-धर्म की उत्पत्ति के पहले बौद्ध-धर्म ग्रन्थों की खोज में मध्य-एशिया से होकर भारत आये थे। राजतरंगिणी में इस तुखार-भूमि का उल्लेख है। मध्य-एशिया में हाल में जर्मन और फ्रेंच खोजियों ने अत्यन्त सभ्य तुखार लोगों की चित्रकारी के नमूने पहले-पहल खोज निकाले हैं। उनकी संस्कृति के ये चिह्न एक ओर तत्कालीन बौद्ध-धर्मावलम्बी पश्चिमी तुर्कों और पूर्व ओर शक्तिशाली चीन-साम्राज्य के आक्रमणों द्वारा ध्वंस कर दिये गये थे। तुखार सूरमाओं की पोशाक और राजतरंगिणी में वर्णित वीरपट्ट दोनों एक-सी हैं। और उन सारी सदियों से लेकर करीब करीब हमारे समय तक भारत के राजे-महाराजे जैसा कि तुखार चित्रों में चित्रित हैं, खुला अँगरखा और पायजामा ही पहनते आये हैं। तुर्क लोग जो बौद्ध और हिन्दू धर्मों में दीक्षित हो गये थे, सदियों तक काबुल के राजसिंहासन पर तुर्की शाही घराने के रूप में शासन करते रहे। अफगानिस्तान के अपने राज्य से वञ्चित हो जाने के बाद शाही

घराने के एक राजा ने भाग कर अन्त में कश्मीर में जाकर शरण ली और कश्मीर के राजघराने से अन्तर्जातीय विवाह कर कश्मीर के शासन और प्रबन्ध में सदियों तक प्रभाव डाला। इस घराने की राजकुमारी डिड्डा अपने स्वत्व से कश्मीर की महारानी हो गई। वह रूस की महारानी कैथेराइन जैसी थी। कश्मीर में आज भी उसकी अगणित प्रेम-लीलायें वहाँके लोगों के संगीत का विषय बनी हुई हैं। निस्सन्देह स्त्रियाँ वहाँ स्वाधीन थीं, पर्दा भी नहीं था, और स्त्रियाँ केवल सामाजिक बातों में ही नहीं, किन्तु राजनैतिक तथा सामाजिक बातों में भी प्रमुख भाग लेती थीं। उन स्त्रियों के उल्लेख हैं जो अपनी सेनाओं के अग्रभाग में युद्ध करते हुए काम आई हैं। कल्हण लिखता है कि एक भूस्वामी घराने की सिल्ला नाम की स्त्री ने युद्ध में राजा के भाग जाने पर राजकीय सेना को एकत्र किया और उसे जोखिम के स्थान से निकाल कर सुरक्षित स्थान में ले जाकर स्थित किया। दूसरी रोचक घटनाओं से जैसे राजकुमारी अनंगलेखा की घटना जो अपने मन्त्री के प्रेम में फँस गई थी, यह प्रकट होता है कि कल्हण के समय में स्त्रियों की कमजोरी के सम्बन्ध में जो विचार प्रचलित था वह वैदिक आर्यों के धर्मानुसार सदाचार के उस परिवर्तन का परिणाम था जो बौद्ध-दर्शन ने उसी प्रकार किया था जिस प्रकार पिथागोरस के दर्शन ने प्राचीन यूनान के धर्म में किया था।

बहुमूल्य वस्त्रों और सुन्दर सिलाई की बड़ी प्रशंसा थी। वस्त्रों, व्यायाम-विद्या, रत्नाभरण, चित्रकला, पुरुषों द्वारा सिर पर फूलों की मालाएँ धारण करने की यूनानी प्रथा के अगणित उल्लेख हैं। सेना के मुख्य सेनापति या राज्य के मन्त्री या प्रधान न्यायाधीश के पद के 'बैज' के रूप में फूलों के हार बालों से गूँथे जाकर धारण किये जाते थे।

उच्च श्रेणी के लोग सुघर भोजन, भुना हुआ मांस, बर्फ से ठंडी की हुई तथा फूलों से वासित शराब का विशेष रूप से आदर करते थे। जैसाकि आज-कल भी प्रचलित है, कश्मीरी लोग मैदान के लोगों के भद्दे भोजन से घृणा करते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण लोग श्राद्ध में मद्य का उपयोग करते थे। नीलमत पुराण में उन भिन्न-भिन्न उत्सवों का उल्लेख है जिनमें मद्य के व्यवहार का विधान बताया गया है।

इस प्रकार यह बात प्रकट होती है कि राजाओं के छत्र-चामर की भाँति भारत में उच्च जीवन का आडम्बरयुक्त रहन-सहन भारतीयों को उनके प्राचीन पूर्वजों से ही प्राप्त हुआ है और उष्ण स्नानागार तथा शर्बतों का व्यवहार भारतीयों का अपना स्वदेशी व्यवहार है। भारतीय चिकित्सा के प्राचीन ग्रन्थों में 'पुलाक' के बनाने की विधि का भी वर्णन है। चावल के साथ मांस और सूखे फल पकाने से पुलाक तैयार होता है। चावल और मांस एक साथ पककर जो पुलाव बनता वह उक्त 'पुलाक' ही है। अतएव न पुलाव की और न हम्माम (उष्ण स्नानागार) की हो तुर्की उत्पत्ति है। जब तुर्की ने कान्स्टेंटिनोपल को विजय किया था तब से उष्ण स्नानागार योरप में 'तुर्की-स्नानागार' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उष्ण स्नानागार और सार्वजनिक स्नानागार रोम और यूनान में सदियों पहले से विद्यमान थे। उसके बहुत दिन बाद तुर्क लोग मध्य-एशिया के उच्च पहाड़ियों से निकल कर नगरों में सभ्य जीवन व्यतीत करने को आबाद हुए थे। कल्हण ने तुर्की का उल्लेख 'तुरुष्क' के नाम से किया है। उन्होंने अफगानिस्तान और भारत पर सदियों तक बौद्धों और हिन्दुओं के रूप में शासन किया। बाद को भारत में हिन्दू तुर्कों का स्थान मुसलमान तुर्कों ने ले लिया। परन्तु मध्य-एशिया के इन दोनों प्रकार के लोगों का सांस्कृतिक आधार भारतीय और ईरानी संस्कृतियों के मूल तत्त्वों से निकला था। और ये दोनों संस्कृतियाँ आर्य-संस्कृति से उत्पन्न हुई थीं। इस तरह बाद को जब कश्मीर पन्द्रहवीं सदी के मध्य के लगभग मुसलमानी देश हो गया—कश्मीर की अन्तिम हिन्दू रानी के राज्याधिकार का उसके मुसलमान सेनापति ने अपहरण कर लिया, जिससे वह एक मुसलमानी देश हो गया—तब वहाँके विद्वान् लोग फारसी पढ़ने लगे। फारसी संस्कृत की बहन ही थी और सदियों पहले से काबुल के हिन्दू तुर्की शाही घराने के द्वारा वह कश्मीर पर अपना प्रभाव डालती रही थी। इस प्रकार अरब में इस्लाम-धर्म के जन्म के पहले से भी फारसी के शब्द कश्मीर के शासन-प्रबन्ध में घुस चुके थे। उदाहरण के लिए कल्हण के ग्रन्थ में लेखक के लिए 'दिवीर' और कोषाध्यक्ष के लिए 'गजपति' का प्रयोग हुआ है।

राजतरंगिणी केवल इतिहास की नहीं है। वह कविता की पुस्तक है और उसमें कविकला का दर्शन होता है।

कल्हण को आशा भी थी कि वह कवि के रूप में ग्रहण किया जायगा। उसने अपना विवरण अनुष्टुप छन्द में लिखा है। रामायण और महाभारत का भी यही छन्द है। उसने इतिहास का एक अप्रतिम ग्रन्थ लिखने में सफलता प्राप्त की। उसने प्राचीन इतिहासों, दानपत्रों, ताम्रपत्रों तथा दूसरे लेखों की जो उसे सुलभ हुए, सावधानी से परस्पर तुलना तथा उनका परिश्रमपूर्वक अध्ययन करके अपना ग्रन्थ निष्पक्ष होकर लिखा। ऐतिहासिक के रूप में उसका दृष्टिकोण बहुत ही नवीनता-परक था। अपने चरित-नायकों को उसने शूरवीर के रूप में नहीं अंकित किया है, किन्तु प्रत्येक का उसके गुण और दोष के साथ वर्णन किया है। उसने रूसी यथार्थवादी लेखक की भाँति अपना ग्रन्थ लिखा है। उसकी भाषा जो पिछले समय की संस्कृत हैं, राजनैतिक तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी उन शब्दों से पूर्ण है जिनका सैकड़ों वर्ष पहले चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रयोग किया था और जो आज भी उसी प्रकार भारत में प्रचलित हैं। हमारे देश की ऐसी ही अनोखी संस्कृति है कि सैकड़ों वर्ष के पुराने शब्दों के प्रयोग के द्वारा हमारा अपने उन प्राचीन काल के पूर्वजों से विचार और भाव में सम्बन्ध बना हुआ है जिनका जीवन हमारे जीवन से बहुत ही भिन्न रहा होगा।

और इसी प्रकार हम शिल्प और कविता के द्वारा भी अपनी परम्परा से सम्बन्ध बनाये रहे। राजतरंगिणी में गंगा का तथा स्वर्ग, पृथिवी और पाताल की तीन धाराओं से सम्बन्ध रखनेवाली भिन्न भिन्न कथाओं का अनेक स्थलों में कवित्वपूर्ण उल्लेख हुआ है। इसी तरह गंगावतरण नामक प्राचीन शिल्प-चित्रों में तथा वैसे ही दूसरे शिला-चित्रों में इनका बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। इन्डोचीन के फरासीसी उपनिवेश में दूसरी सदी का संस्कृत का एक प्राचीन शिलालेख मिला है। इससे प्रकट होता है कि वहाँके एक हिन्दू राजा ने गंगा की पैदल तीर्थ-यात्रा करने के लिए अपना सिंहासन कैसे छोड़ा था। भारतीय इतिहास में इसी तरह की गंगा-यात्राओं के सम्बन्ध में अत्यन्त भूतकाल से लेकर अब तक के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मोहनलाल कश्मीरी ने सन् १८४१ में एक पुस्तक लिखी थी। वे पहले अफ़गान-युद्ध के समय अफ़गानिस्तान और मध्य-एशिया को गये थे। उस 'पुस्तक में उन्होंने समरकन्द और बोखारा के हिन्दू व्यापारियों का उल्लेख किया है। इनसे वे मिले थे। उन्होंने लिखा है कि ये लोग वहीं उत्पन्न हुए थे और वहीं बड़े हुए थे और भारत कभी नहीं आये थे, परन्तु जीवन में एक बार गंगा के स्नान की इनको बड़ी उत्कट इच्छा थी।

कल्हण की इस रचना में हमारी ऐसी ही परम्परागत संस्कृति का चित्रण हुआ है। खेद की बात है हम अपने इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का समुचित अनुशीलन नहीं करते।

१९३३

❀ ❀ ❀

कारण क्या है ?

पंडित कृष्णकान्त मालवीय

अप्रेल मास की 'सरस्वती' में हिन्दू-हित-रक्षक भाई परमानन्द जी का 'हमारी नौका के नाविक' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। जो लोग भाई जी से जरा भी परिचित हैं उनको लेख को पढ़कर आश्चर्य न हुआ होगा। भाई जी को हिन्दू-हितों की लगन है और जब लगन होती है तब स्वभावतः मनुष्य कभी-कभी तथ्य और सत्य से दूर और अधिक भावुक हो जाता है।

भाई जी का कहना है और भाई जी ने यही सिद्ध करने की चेष्टा भी की है कि हिन्दू-जाति सदा अपने नेताओं की भूलों के कारण हानियाँ उठाती रही है और हिन्दू-जाति की वर्तमान स्थिति के लिए उसके नेता उत्तरदायी हैं। यह सत्य किसी भी जाति के सम्बन्ध में लागू है, संसार की सभी जातियाँ अपने नेताओं की सूझ-बूझ से बनती या बिगड़ती हैं। ऐसी दशा में हिन्दू जाति के सम्बन्ध में इस

सत्य को स्वीकार कर लेने में किसी को कोई भी अड़चन नहीं हो सकती। अड़चनें सामने तब आती हैं जब हम भाई जी के प्रमाणों पर विचार करते हैं।

'महाभारत' में लिखा है—"कालो वा कारणं राजा, राजा वा कालकारणम्।" समय या स्थिति का कारण राजा (नायक या राष्ट्रीय नौका का नाविक) होता है या समय का परिणाम राजा होता है, अर्थात् जैसा राजा होता है वैसी उसके राज्य या देश की स्थिति होती है, साथ ही जैसा समय होता है, प्रजा होती है, वैसा ही राजा होता है। ये दोनों ही बातें ठीक हैं, इसमें सन्देह नहीं और यदि 'राजा' शब्द के स्थान में नायक या नेता शब्द रख दिया जाय तो भाई जी एक इसी सूत्र से अपने इष्ट की सिद्धि कर सकते थे, और अपने लेख को अटल सत्य से प्रमाणित कर सकते थे। किन्तु भाई जी ने यह नहीं किया। उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों से अपने कथन को सिद्ध करना चाहा है और ये वाद के विषय हैं।

भाई जी का कहना है कि हिन्दू नेताओं को अपने देश के भूतकालीन इतिहास का समुचित ज्ञान नहीं है; और इसी कारण की हुई भूलों से लाभ न उठाकर वे बार-बार गलतियाँ कर जाते हैं। भाई जी का कहना यह भी है कि हिन्दुओं को इतिहास के अध्ययन का शौक भी कम रहा है। मेरा निवेदन है कि प्राचीन काल में आज की तरह इतिहास नहीं लिखे जाते थे। उस समय इतिहास लिखने का क्रम ही दूसरा था, और जो कुछ लिखा जाता था उसे लोग पढ़ते थे और उससे लाभ भी उठाते थे। हमारी गिरी हुई दशा के समय जो इतिहास तैयार हुआ वह या तो मुस्लिम लेखकों के द्वारा या अँगरेज लेखकों की कलमों से तैयार हुआ है। इनमें सत्य कहाँ तक है और कितना है, यह भाई जी से छिपा नहीं। अब कुछ खोज होने लगी है, इतिहास लिखे जा रहे हैं, हिन्दू विद्वान् इस खोज के काम में लगे हुए हैं। इस समय इस सम्बन्ध में इतना कह देना ही पर्याप्त है। इतिहास के सम्बन्ध में हम लोगों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इतिहास से और उसके लेखक के दृष्टिकोण से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, किसी भी इतिहास की गाथा को पूर्ण सत्य मान लेना ठीक नहीं होता। योरप के प्रसिद्ध 'वाटरलू' के युद्ध को ही ले लीजिए। अँगरेज ऐतिहासिक कहते हैं कि अँगरेजी सेना-नायक के बुद्धि-चातुर्य और साहस से विजय प्राप्त हुई; जर्मन ऐतिहासिक यह श्रेय अपने सेना-नायक को देते हैं। अँगरेज बच्चे वेलिंगटन के गीत गाते हैं, जर्मन बच्चे ब्लूचर के। लेखक के दृष्टिकोण का एक दूसरा असर भी होता है। भाई जी ने अपने लेख में पानीपत में दिल्ली के अन्तिम लोदी बादशाह की पराजय तथा बाबर और राणा सांगा का जिक्र किया है। 'सरस्वती' के इसी अंक में डाक्टर रामप्रसाद जी त्रिपाठी का 'आगरा और मेवाड़ का सम्बन्ध' शीर्षक लेख है। इस लेख में भी इसी समय की बातों की चर्चा है। किन्तु भाई जी जिस फैसले पर पहुँचे हैं, त्रिपाठी जी का निर्णय वैसा नहीं है। लेखक के दृष्टि-कोण से ऐतिहासिक चर्चा में अन्तर हो जाया करता है। इसलिए इतिहास की अधिक चर्चा न कर मुख्य विषय पर मैं आ जाता हूँ।

मैं यह मानता हूँ कि सभी जातियाँ अपने नेताओं—यदि नेताओं का अर्थ धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी नायकों से हो—की भूलों के कारण क्षति उठाती हैं। हिन्दू-जाति भी इसी तरह अपने नेताओं की भूलों का शिकार बनी, किन्तु इसके साथ ही मैं यह नहीं मानता कि आज की हमारी वर्तमान दीन दशा का एक-मात्र कारण यही है। कारण क्या हैं, वे कैसे दूर हो सकते हैं, हिन्दू-जाति को ऊपर उठाने के उपाय क्या हैं, इस पर सभी देश के हितचिन्तकों को विचार करना चाहिए।

भाई जी ने महाभारत के युद्ध से अपनी कथा का आरम्भ किया है। आपका कहना है कि इस महाभारत के कारण ही भारत रसातल को पहुँच गया। महाभारत के भयानक परिणामों से आज तक देश मुक्त न हो सका और 'इस जाति की रक्षा करना असम्भवप्राय नजर आता है।' अन्य भारतीय भाइयों की जबान से भी यही बात मैं सुन चुका हूँ। मैं भी एक समय इन्हीं बातों को कहता था, किन्तु मेरा खयाल है कि यह ठीक नहीं है।

महाभारत के प्रवर्तक भगवान् कृष्ण थे, वे किस पाये के धार्मिक और राजनैतिक नेता थे, यह किसी से छिपा नहीं है। महाभारत क्यों जरूरी था और युद्ध करना ही धर्म क्यों था, यह 'गीता' के द्वारा उन्होंने समझा दिया है। मेरा निवेदन यह है कि हिन्दू-जाति उनके उपदेशों, अपने आदर्श और कर्तव्य को भूल बैठी, यही कारण उसकी अधोगति का हुआ। और 'गीता' क्या है, यह यहाँ हमें भाई जी को बताने की जरूरत नहीं है।

भाई जी से मेरा निवेदन यह है कि वे आज के हिन्दू और मुसलमानों पर ही दृष्टि डाल कर देखें। क्या कारण है कि मुस्लिम अपने इष्ट की सिद्धि कर पाते हैं, हिन्दू नहीं? क्या कारण है कि मुसलमान जिसे ठीक समझते हैं उसके लिए मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं और हिन्दू किनारा कस जाते हैं? क्या कारण है कि मुसलमान हिमालय से कन्याकुमारी तक और पंजाब से आसाम तक एक हैं और हिन्दू नहीं? क्या कारण है कि मुसलमानों से सरकार भी दबती है और हिन्दुओं से नहीं? मुसलमान जिन्दा और जीवित जाति क्यों है, हिन्दू क्यों नहीं? भाई जी से मेरा निवेदन यह है कि हमारी अधोगति के कारण इन प्रश्नों के हल में ही छिपे हुए हैं और जब तक हम लोग इन कारणों को दूर नहीं कर पाते, हम उभर नहीं सकते।

अपने लेख के उत्तरार्द्ध में भाई जी ने १९१६ से-लेकर आज तक की कुछ भूलों का जिक्र किया है और यह दिखाया है कि वर्तमान काल के नेताओं ने भूलें की हैं। मनुष्य से भूल होना स्वाभाविक है, इसलिए यह मान लेना कि नेताओं से भूलें हुईं और फिर होंगी, अनुचित न होगा तो भी भाई जी की बताई हुई भूलों पर विचार कर लेना उचित है।

भाई जी ने १९१६ के हिन्दू-मुस्लिम पैक्ट का जिक्र किया है। आपका कहना है—"इसी के आधार पर नये सुधारों को जारी करते हुए देश और उसके हर एक प्रान्त में मुसलमानों के पृथक् अधिकारों पर मुहर लगा दी गई।" यह ठीक नहीं है। भाई जी को मालूम होगा कि देश के सभी नेता पैक्ट की हानि को स्वीकार कर रहे हैं। भाई जी से यह भी छिपा न होगा कि लखनऊ-कांग्रेस के समय इस समझौते पर खासी बहस रही। मुसलमान एक स्वर से अपनी माँग पर अड़े हुए थे। वे कह रहे थे, बड़े भाई को छोटे भाई के प्रति उदारता प्रकट करनी चाहिए, कुछ ज्यादा भी दे देने में आपत्ति नहीं करनी चाहिए, छोटे भाई का विश्वास करना चाहिए आदि आदि। मुसलमानों के पीछे अँगरेजों की शक्ति थी। अँगरेजों के सिखलाने पर ही मुस्लिम डेपुटेशन पृथक् निर्वाचन की माँग लेकर लार्ड मिन्टो के पास गया था। हिन्दू राजी होते या न होते सरकार पृथक् निर्वाचन मुसलमानों को पहले ही दे चुकी थी। देश के सभी नेता स्वर्गीय लोकमान्य तिलक, मिसेज बीसेन्ट, स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू, एक-स्वर से कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को बिखरने न देने के लिए कह रहे थे कि मुसलमानों की माँग को स्वीकार कर लो। विरोध में केवल एक आवाज थी और वह अन्त तक विरोध में ही रही। यह आवाज पूज्य मालवीयजी की थी। प्रायः तीन दिन तक यह हाय-हाय विषय-निर्वाचिनी-समिति में होती रही और अन्त में समझौता हो गया। समझौता इस विश्वास पर हुआ था कि यह अन्तिम फैसला है, मुसलमान इस से सन्तुष्ट हो जायँगे, और हिन्दू और मुसलमान भविष्य में एक होकर देश की सेवा करेंगे। किन्तु यह नहीं हुआ; कुछ ही समय के बाद मुसलमान अधिक माँगने लगे, और अब वे जो चाहते हैं वह किसी से नहीं छिपा है। जो वे चाहते हैं वह प्रायः उनको मिल भी गया है, क्योंकि सरकार की ऐसी ही नीति है। हम मुसलमानों को दोषी ठहरा सकते हैं, कह सकते हैं कि वे निजी स्वार्थ से ही प्रेरित रहते हैं। किन्तु उनका जवाब यही है कि राजनीति में कोई भी फैसला अन्तिम फैसला नहीं होता, कोई भी निश्चय अन्तिम निश्चय नहीं होता।

हिन्दू नेता पृथक् निर्वाचन के सदा विरोधी रहे। यह राष्ट्रीयता का पोषक नहीं, इसे सब जानते थे और जानते हैं। किन्तु वे करते क्या? जब मुसलमान इसी पर तुले थे, म्युनिसिपल्टियों और डिस्ट्रिक्टबोर्डों में पृथक् निर्वाचन जारी हो चुका था। हिन्दू जानते थे कि यदि हिन्दू राजी नहीं होते तो सरकार उनको पृथक् निर्वाचन अधिक से अधिक दे देगी। ऐसी दशा में उन्होंने यह उचित ही निश्चय किया कि अपने हाथों से ही शर्तों के साथ दो, कम से कम ये एक दायरे के अन्दर रहेंगे और अपने साथ रहेंगे। हमारे 'न' कहने से भी वे पा ही जायँगे, साथ ही हमसे अलग भी हो जायँगे। ऐसी लाचारी की दशा में हिन्दू सब जानते हुए भी पृथक् निर्वाचन के जहर के प्याले को पीने को तैयार हुए थे। भाई परमानन्द जी इस दशा में क्या करते, यह वही सोचें। राजनीति समझौते का एक दूसरा नाममात्र है, राजनीति पूर्ण सत्य का रूप नहीं है, राजनीति में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् में काट-छाँट सदा होती रहती है। भाई जी को यह भूलना नहीं चाहिए कि हिन्दू राजी होते या नहीं, १९१६ में समझौता होता या न होता, मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन मिलता और मिलता, क्योंकि सरकार की यही इच्छा थी।

इसके बाद भाई परमानन्द जी ने १९२० में महात्मा जी के असहयोग-आन्दोलन की चर्चा की है। भाई जी का कहना है कि महात्मा जी ने खिलाफत-आन्दोलन जारी करके भारी भूल की है। ठीक है। कोई भी राजनीति का विद्यार्थी इस बात को कह देगा कि राजनीति में मजहब का समावेश करना बेजा है और उसका बुरा परिणाम होता है। यह एक वैसा ही सत्य है जैसा यह कि जाति अपने नेताओं की भूलों के कारण गिरती है। मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मेरा भी सदा यही खयाल रहा है कि राजनीति में मजहब को स्थान नहीं देना चाहिए, किन्तु इस सम्बन्ध में हम लोगों को उस समय की स्थिति पर विचार करके अपनी राय देनी चाहिए।

महात्मा जी देश को आजाद करना चाहते थे, भारत में वे स्वराज्य के सूर्य का उदय देखना चाहते थे। यह सूर्य देश के निवासियों के सम्मिलित उद्योग से ही उदय हो सकता था। किन्तु मुसलमान हिन्दुओं से पृथक् थे, उनमें वह जागृति न थी। मुस्लिम नेता सरकार के हाथ थे। महात्मा जी को मुस्लिम जनता को अपने साथ लेना था, उसे देश के आन्दोलन में शरीक करना था, और उनके लिए नये मुस्लिम नेता जो सरकार-परस्त और स्वार्थ-लोलुप न हों, तैयार करना था। मुसलमान धर्मान्ध हैं, धर्म के नाम पर उनमें जोश आता ही है, खिलाफत का प्रश्न भी उनका था, एक चतुर नायक की भाँति महात्मा जी ने स्थिति से लाभ उठाया। आज भाई जी भले ही उस आन्दोलन को भूल बता दें, किन्तु उस आन्दोलन के समय भाई जी यह नहीं कह सकते थे। उस समय भारत में एक दूसरी दुनिया दिखाई देती थी। वे स्वप्न आँखों की ओट हो गये, यह अपराध महात्मा जी का नहीं। हमें यह न भूलना चाहिए कि देश में हिन्दू-मुसलमानों और इनके नेताओं के सिवा एक शक्ति और भी है, और उसके हाथ में सब कुछ है। अपनी रक्षा के लिए वह भी सतर्क रहती है और सहस्रों उपायों का उपयोग किया करती है। उसका अपनी रक्षा का प्रथम सिद्धान्त हिन्दू-मुसलमानों के दो कैम्प बनाये रखना है। महात्मा जी की चालें कुछ समय तक सफल रहीं, किन्तु अँगरेज भी राजनैतिक चालों के चलने में कम नहीं हैं। मुसलमानों को उन्होंने अपने हाथों में कर लिया। महात्मा जी के पास वे शक्तियाँ न थीं जिनसे वे मुसलमानों को अपना बनाये रह सकते।

मैं यह नहीं कहता कि राजनीति में मजहब का समावेश बुरा नहीं। मैं यह भी नहीं कहता कि महात्मा जी ने गलतियाँ नहीं की हैं। महात्मा जी स्वयम् अपनी हिमालय-सी भूलों का जिक्र किया करते हैं। किन्तु खिलाफत-आन्दोलन के सम्बन्ध में गलती का जिक्र ठीक नहीं। महात्माजी की यह एक जबर्दस्त चाल थी, सुफल फलते तो वे भी अवर्णनीय होते, बुरा परिणाम हुआ तो स्वभावतः उसी हिसाब से वह भयानक भी हुआ। भाई जी को इस आन्दोलन से शिकायत यह है कि इससे जनसाधारण में 'जागृति-सी आई, किन्तु मुसलमानों में खालिस मजहबी जोश और धर्मान्धता की आग भी भर दी गई।' यह ठीक है, किन्तु इसी ठीक में भाई जी और मेरे भेद का रहस्य भी छिपा हुआ है। एक खिलाफत-आन्दोलन से देश के मुसलमान जाग गये, वे संगठित हो गये, मरने-मारने और सर्वस्व होम देने को तैयार हो गये, मेम्ने शेर हो गये। किन्तु हिन्दू भी ऐसे क्यों नहीं बने? क्या बात है कि हिन्दू जनता में सर्वस्व होम देने की शक्ति नहीं पैदा हुई? यह दोष महात्मा जी का है या हिन्दू जाति का?

तीसरी भूल भाई जी ने नेहरू-रिपोर्ट की बतलाई है। भाई जी यह भूल ही जाते हैं कि देश में अँगरेज-सरकार भी है, उसके भी स्वार्थ हैं और उनकी रक्षा के लिए वह सदा सचेष्ट रहती है। देश के सामने मुसलमानों की चौदह माँगें थीं। भाई जी मानें या न मानें, इन चौदह माँगों के पीछे ब्रिटिश-साम्राज्य की शक्ति थी और है। मैं यही कह सकता हूँ कि मेरा सदा यही विश्वास रहा है। जिस समय गोलमेज कान्फरेन्स हो रही थी, मैं अपने मित्रों से कहा करता था कि और कुछ हो या न हो, किन्तु इस गोलमेज के द्वारा मुसलमानों की माँगों में से बारह-तेरह पर मुहर लग जायगी। मुसलमान भी यह जानते थे। वे जानते थे कि सरकार उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए मुँहमाँगी कीमत देगी। मुसलमान यह जानते थे कि हिन्दू स्वराज्य के लिए दीवाने हैं; स्वराज्य बिना मुसलमानों को मिलाये स्थापित नहीं हो सकता। इसलिए स्वराज्य की लालसा से हिन्दू दबेंगे, अन्याय भी सहन करेंगे और मुँहमाँगी कीमत भी देंगे। मुसलमान

१९१६ के समझौते को ठुकरा कर अधिक चाहते थे, यह उनकी सरासर ज्यादती थी। वे अपने वचनों से खुद फिर गये थे। इस दशा में होता क्या? साइमन कमीशन अपना फैसला दे रहा था, सरकार उसी को मानती और मुसलमानों को खुश करती। देश के नेता चुप नहीं बैठे रह सकते थे। चुप बैठे रहना मृत्यु का प्रमाण होता। स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू ने इसलिए समझौते की योजना की, "शासन-विधान की बनावट स्वयम् भारतीयों के हाथ में हो, इसलिए मुसलमानों को सब कुछ दे दो।" इस भाव से नहीं, बरन इसलिए कि विधान भी अपना हो, साथ ही मुस्लिम माँगें सीमित हों और यथासंभव विवेक और न्याय की परिधि के बाहर न हों। मुसलमान लखनऊ के समझौते को रद कर उसमें इजाफा कराने पर तुले हुए थे। यही वाद का विषय था। ऐसी दशा में समझौता पूर्ववत् बना रहता, यह कैसे संभव था? नेहरू-रिपोर्ट से भी मुसलमान सन्तुष्ट नहीं हुए, जिसमें भाई जी के कथनानुसार उनको सब कुछ मिला था, यह भाई जी से छिपा नहीं। भाई जी से यह भी छिपा न होगा कि मुसलमान यह कहने लगे थे कि आखिर मोतीलाल हिन्दू ही निकले। नेहरू-रिपोर्ट होती या न होती, मुसलमान वही पाते जो उनको आज मिला है। इसी रिपोर्ट के सम्बन्ध में भाईजी ने पूज्य मालवीय जी और लाला जी को भी स्मरण कर लिया है। मेरी समझ में यह भाई जी ने उचित नहीं किया है। आगे चलकर भाई जी ने गोलमेज का जिक्र करते हुए महात्मा जी पर दोषारोपण किया है। भाई जी का कहना है कि महात्मा जी की गलत कोशिश का एक बड़ा नतीजा यह निकला कि हिन्दुओं में ही एक नई दलित पार्टी तैयार हो गई, जिसने पृथक् अधिकारों के लिए जिद की।

भाई जी ने यह लिख कर अपने इस कथन को सिद्ध किया है कि नेता इतिहास का ध्यानपूर्वक अध्ययन नहीं करते। गोलमेज के समय में क्या हुआ, यह भाई जी को विदित होना चाहिए। भाई जी को यह मालूम होना चाहिए कि गोलमेज के समय में एक (Minority pact) अल्पसंख्यक जातियों का समझौता तैयार हो गया था। अँगरेज व्यापारी, मुसलमान और दलित जाति के नेता इसमें सम्मिलित थे।

मैं यह नहीं कहता कि गोलमेज के समय महात्मा जी से गलतियाँ नहीं हुईं। गलतियाँ हुईं और वे भीषण थीं, किन्तु मेरा निवेदन यही है कि जो गलती भाई जी महात्मा जी के माथे मढ़ रहे हैं वह उनसे नहीं हुई और न उसका उत्तरदायित्व उन पर है। गोलमेज में क्या हुआ, यह सब इतिहास की गाथा है। मुसलमान ही नहीं, दलितों का भी एक पृथक् दल उसने तैयार कर दिया। प्रायः आठ करोड़ मुसलमान, इतने ही दलित जातिवाले और थोड़े से अँगरेजों का एक दल तैयार हो गया। हिन्दू अपने ही देश में सदा के लिए अल्पसंख्यक हो जाते, हिन्दू कभी सिर न उठा सकते और देश की स्वतन्त्रता का सवाल सदा के लिए आँखों की ओट हो जाता। हिन्दू-जाति भी सदा के लिए हीन और कमजोर हो जाती। दलित सदा के लिए उसके विरोधी हो जाते। इस स्थिति में हम सभी लोग 'टुकटुक दीदम दम न कशीदम' की कहावत को चरितार्थ कर रहे थे। देश में एक ही महात्मा था और उसने प्राणों को होम कर दलितों को पृथक् होने से रोका। अगर महात्मा जी ने अनशन न किया होता, किसी अन्य ने किया होता, तो मैं मान सकता था कि महात्मा जी से अधिक किसी को देश या हिन्दू-जाति की रक्षा का खयाल है। मैं भाई जी से नम्रतापूर्वक पूछता हूँ कि यदि दलित जाति का अलग दल बन जाता जैसा कि फैसला हो गया था, तो क्या हिन्दू कभी देश में सिर उठा सकते थे? पृथक् निर्वाचन की कृपा से सदा के लिए दस-पन्द्रह वर्ष में हमसे अलग न हो जाते?

भाई जी, खेद है, निकटस्वार्थों और निकट-भविष्य पर ही दृष्टि रखते हैं, साथ ही यह भूल ही जाते हैं कि देश में अँगरेज भी हैं जिनकी शक्ति अपरिमित है।

मैं यह नहीं कहता कि इन नेताओं ने कभी भूल नहीं की। किसी भी मनुष्य से भूलों का होना संभव है। और फिर महात्मा जी तो सदा बड़े दाँव की बाजी खेला करते हैं। विजय हो तो लाभ अत्यधिक हो सकता है, हानि होगी तो कम नहीं होगी।

सच तो यह है—

जौके तूफ़ाँ उससे पूछो जिसको हो जौके फ़ना।
इसको क्या जाने वो जो दामाने साहिल में रहे॥

मैं भाई जी को बड़े आदर की दृष्टि से देखता हूँ,

उनका त्याग कम नहीं; कष्ट भी उन्होंने कम नहीं उठाया; लगन भी उनमें पूरी है; किन्तु मेरा निवेदन यह है कि हिन्दू-जाति की हितरक्षा करनेवालों को सबसे पहले इस समस्या पर विचार करना चाहिए कि हिन्दुओं और मुसलमानों या अँगरेजों में अन्तर क्या है और हमारी अधोगति के कारण क्या हैं?

१९३३

❀ ❀ ❀

देहरादून जेल से अन्तिम पत्र

पंडित जवाहरलाल नेहरू

हम समाप्त कर चुके, प्रिये। लम्बी कहानी का अन्त हो गया। मुझे अधिक लिखने की जरूरत नहीं है, लेकिन शान के साथ—धूम धड़ाके से—समाप्त करने की अभिलाषा मुझे एक और पत्र लिखने के लिए उत्साहित कर रही है—यही अन्तिम पत्र।

मैंने जो पत्र लिखे हैं, उनका एक खासा पहाड़ सा बन गया है। और न जाने, मैंने कितनी अधिक अच्छी स्वदेशी स्याही स्वदेशी कागज पर फैलाई है। क्या यह सब करना उपयोगी था—मैं कभी कभी विस्मय के साथ सोचता हूँ? क्या यह सब कागज और स्याही तुम तक कोई ऐसा सन्देश पहुँचायेगी, जिससे तुम्हें कुछ दिलचस्पी हो। निःसन्देह तुम कहोगी, हाँ, क्योंकि तुम सोचोगी कि और किसी जवाब से मुझे कहीं चोट न पहुँचे, और तुम मेरा इतना अधिक प्यार करती हो कि इस तरह की जोखिम तुम उठाना न चाहोगी। तुम इन पत्रों की परवा करो या न करो, लेकिन इनके लिखने से मुझे जो आनन्द मिला है, उससे वंचित करने की तुम्हें भी इच्छा नहीं हो सकती। पिछले दो लम्बे-लम्बे सालों में मैंने प्रतिदिन इन पत्रों को तुम्हारे लिए लिखा है। तब जाड़ा था, जब मैं यहाँ आया था। जाड़े का स्थान हमारे अल्पकालिक वसन्त ने लिया, जिसका गर्मी की उष्णता ने जल्द ही संहार कर डाला, और तब, जब पृथ्वी सूख गई और कड़क रही थी और आदमी तथा मवेशी साँस के लिए तड़फ रहे थे, बरसात आ पहुँची और मेंह का ताजा और ठण्डा पानी काफी तादाद में चारों ओर फैल गया। शरद् वर्षा ऋतु के बाद आया, और आकाश अद्भुत रूप से स्वच्छ और नील-रंग-रञ्जित हो गया और दोपहर के बाद का समय बहुत ही सुहावना मालूम होने लगा। एक संवत्सर का क्रम समाप्त हो गया और फिर उसका क्रम शुरू हुआ—जाड़ा, गर्मी, बरसात और बसन्त। मैं यहाँ बैठा बैठा तुम्हें लिखता और तुम्हारी बाबत सोचता और ऋतुओं की गति को देखता और अपनी बारिक की छत पर मेघ के पटपट की ध्वनि को सुनता रहा हूँ:—

सुमधुर। वर्षा संगीत मधुर।
बरसीं बूँदें कर मधुमय स्वर
झर अम्बर से छर छर, झर झर
गिर भूतल, गिर भवनों पर!
खिल उठा श्रमित चिर चिन्तित उर।
सुमधुर। वर्षा संगीत मधुर॥*

बैनजमिन डिजरैली ने, जो उन्नीसवीं सदी में एक बड़ा अँगरेज राजनीतिज्ञ हुआ है, लिखा है कि दूसरे आदमी निर्वासन और कारागार से दण्डित होने पर, यदि वे बच गये हताश हो जाते हैं। साहित्यसेवी उन दिनों को अपने जीवन के सबसे मधुर तिथियों में गिनेगा। उसने यह ह्यूगो ग्रीटिमस के सम्बन्ध में लिखा है, जो सत्रहवीं शताब्दी में हालैंड का एक प्रसिद्ध दार्शनिक और विधान-शास्त्र का वेत्ता था, और जिसे आजन्म कारावास की सजा हुई थी लेकिन जो दो साल के बाद कैद से निकल भागा था। उसने कैदखाने में अपने दो साल दार्शनिक और साहित्यिक काम में व्यतीत किये थे। बहुत से प्रसिद्ध साहित्यिक कैदी हुए हैं, जिनमें से सबसे अधिक ख्यातनामा दो हैं—एक तो स्पेन का सरवेंटे, जिसने "डान क्वीजैंट" लिखा था, और दूसरा

---

* मूल में फ्रेंच पद है, जिनका ऊपर छायानुवाद दिया गया है। इस लेख के उद्धृत पद्यांशों का अनुवाद श्री नरेन्द्र जी ने किया है—वे० ना० ति०।

एक अँगरेज, जॉन बैनियन, जो "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" का रचयिता था।

मैं कोई साहित्यकार नहीं, और न मैं यही कहने के लिए तैयार हूँ कि वे बहुसंख्यक वर्ष, जिनको मैंने जेल में बिताया है, मेरे जीवन में सबसे अधिक मधुर थे, लेकिन यह मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि पढ़ने और लिखने ने मुझे उनको काटने में बेहद सहायता पहुँचाई है। मैं साहित्यकार नहीं, और न मैं इतिहासकार ही हूँ, मैं वास्तव में हूँ क्या? इस प्रश्न का उत्तर देना मुझे कठिन मालूम होता है। मैंने बहुत से कामों में दखल दिया है। मैंने कालेज में विज्ञान से आरम्भ कर कानून को अपनाया, और जीवन की बहुतेरी बातों में दिलचस्पी देने के बाद, अन्त में जेल जाने के पेशे को अख्तियार किया, जो हिन्दुस्तान में लोकप्रिय हो रहा और जिसे बहुत से लोग अपनाते हैं।

मैंने इन पत्रों में जो कुछ लिखा है, उसे तुमको किसी विषय के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण न मानना चाहिए। राज-नीतिज्ञ प्रत्येक विषय पर रायजनी करना चाहता है, और जितना वह जानता है उससे अधिक जानने का वह सदा ढोंग भी रचता है। बहुत होशियारी के साथ उस पर नजर रखना चाहिए। मेरे ये पत्र महज छिछले चित्रण हैं—जो एक दूसरे के साथ एक बहुत ही पतले धागे से बँधे हैं। मैं विचरता हुआ बढ़ता गया हूँ, सदियों को एक एक छलाँग में पार करता और बहुत सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं को छोड़ता हुआ बढ़ गया हूँ, और कभी कभी मैं उस घटना के पास, जिसने मुझे आकृष्ट किया है, अपना तम्बू गाड़ काफी देर तक रम भी रहा हूँ। जैसा तुम देखोगी, मेरे राग-द्वेष काफी स्पष्ट हैं। और इसी तरह से जेल की मेरी मानसिक तरंगें भी हैं। मैं यह नहीं चाहता कि तुम इन सबको जैसा का तैसा ही समझ लो। मुझमें बहुत से दोष भी निकलेंगे। एक जेल—जहाँ न तो पुस्तकालय और न विश्वकोष के समान ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—ऐतिहासिक विषयों पर लिखने के लिए सबसे उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता है। मैंने बहुत कुछ सहारा उन बहुत-सी नोटबुकों का लिया है, जिनको मैंने उस समय से जमा करना शुरू कर दिया था जब १२ वर्ष हुए मैंने जेल यात्रा का श्री-गणेश किया। यहाँ पर मेरे पास बहुत सी किताबें भी आईं। वे आईं और चली गईं; क्योंकि मैं यहाँ पर एक पुस्तकालय का तो संग्रह नहीं कर सकता था। मैंने निर्लज्जता के साथ उन किताबों से घटनायें और विचार हड़प लिये हैं, मैंने जो कुछ भी लिखा है उसमें कोई बात नवीन नहीं है। शायद मेरे पत्रों को समझने में कभी-कभी कठिनाई हो। उन हिस्सों को छोड़ जाना। उनकी परवा न करना। उस अंश ने, जो सिन-रसीदा है, कभी-कभी मुझे अपने काबू में कर लिया, और मैं इस तरह से लिख गया, जिस तरह से मुझे न लिखना चाहिए था।

मैंने तुम्हें महज खाका दिया है। यह इतिहास नहीं है। जो कुछ है, वह है हमारे सुदीर्घ भूतकाल की केवल अनित्य झलक। यदि इतिहास में तुम्हें अभिरुचि है, यदि तुम इतिहास की मोहकता के कुछ अंश को भी अनुभव करती हो, तो तुम्हें आसानी से उन किताबों तक पहुँचने का मार्ग मिल जायगा जिनके द्वारा भूतकालिक युगों के उलझे हुए सूत्रों के सुलझाने में तुम्हें बहुत कुछ सहायता मिलेगी। लेकिन महज किताबों के पढ़ने ही से मदद नहीं मिलेगी, यदि तुम भूतकाल को जानना चाहती हो तो तुम्हें उसकी ओर सहानुभूति और समझ से देखना चाहिए। उस आदमी को समझने के लिए, जो बहुत पहले जीवित था, तुम्हें उसके वातावरण को समझना पड़ेगा, उन परिस्थितियों को, जिनके अन्तर्गत उसने अपना जीवन-निर्वाह किया और उन विचारों को जिनसे उसका मस्तिष्क भरा था। यह नितान्त भूल है कि हम भूतकाल के मनुष्यों के विषय में अपनी सम्मति कायम करें जैसे मानो, वे आज दिन जीवित हैं और उसी तरह से ही सोचते विचारते हैं, जैसे हम सोचते विचारते हैं। आज दास-प्रथा के समर्थन में कोई बोलनेवाला नहीं है। लेकिन तिस पर भी महान् प्लेटो की यह सम्मति थी कि दासत्व आवश्यक है। हाल में लाखों जानें लोगों ने दे दीं ताकि संयुक्तराज्य (अमरीका) में गुलामी जारी रहे। हम वर्तमान की कसौटी पर भूतकाल को नहीं कस सकते। सब लोग सहर्ष इसे स्वीकार कर लेंगे लेकिन सब लोग इस बात को उसी तरह से न मानेंगे कि वर्तमान काल को भी भूतकाल की कसौटी से न परखना चाहिए। बहुत से मत-मतान्तरों ने उन पुराने विश्वासों और रीति-नीतियों को सड़ने-गलने से बचाने में विशेष सहायता पहुँचाई है, जो अपने जन्म के युग और देश में सम्भवतः कुछ उपयोगी रही हों, लेकिन जो आजकल के जमाने के लिए नितान्त ही अनुपयुक्त हैं।

तो फिर यदि तुम भूतकालिक इतिहास को सहानुभूति

की दृष्टि से देखोगी तो रूखी-सूखी हड्डियाँ मांस और रक्त से भर आयेंगी और जीते-जागते, हमसे भिन्न और बहुत कुछ हमारे समान ही, समान मानव गुणदोषों से युक्त, नर-नारी और बच्चों का एक बड़ा भारी जलूस, प्रत्येक युग और देश-देशान्तर से, आता हुआ तुम्हें दिखाई देगा। इतिहास जादू का खेल नहीं है लेकिन उन लोगों के लिए उसमें भरपूर मात्रा में जादू मौजूद है, जिनके देखने को आँखें हैं।

इतिहास की चित्रशाला से असंख्य चित्रपटों का हमारे मन में जमघट लग जाता है। मिश्र, बैबिलोनिया, निनेवा, प्राचीन भारत की सभ्यतायें, हिन्दुस्तान में आर्यों का आगमन, योरप और एशिया में उनका प्रसार, चीनी संस्कृति का आश्चर्यजनक उल्लेख, कनौसस और ग्रीस, साम्राज्य-वादी रोम और बिजेन्टियम, दो महाद्वीपों के एक कोने से दूसरे कोने तक अरबों का विजयकारी पदविक्षेप, भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान और उसका ह्रास, मंगोलों की विस्तृत विजय, योरप में मध्यकालीन युग और उसके चमत्कारी गाथिक गिरजे, भारत में इसलाम का पदार्पण और मुगल साम्राज्य, पश्चिमीय योरप में विद्या और कला का पुनः प्रसार, अमरीका और पूर्व के समुद्री मार्गों का अन्वेषण, बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रचलन और पूँजीपंथ का विकास, व्यवसाय-वाद और योरप के आधिपत्य और साम्राज्यवाद का विस्तार और आधुनिक संसार में विज्ञान के चमत्कार।

बड़े बड़े साम्राज्य उठे और गिरे, और हजारों साल से लेकर तब तक आदमी को उनकी सुध न आई, जब तक फिर से सहिष्णु खोजियों ने बालू के नीचे से उनके खंडहर खोद न निकाले। लेकिन बहुत से विचार, बहुत-सी कल्पनायें तभी बची रहीं। और वे साम्राज्य के मुकाबले में अधिक बलशालिनी और चिरस्थायिनी सिद्ध हुईं।

अब कहाँ मिस्र के शक्ति साज?
चिन्तन के गहरे गर्त्तों में
है लीन सकल ऐश्वर्य आज।
है कहाँ आज अवनीतल पर
यूनान और वह ट्राय नगर?
वेनिस का गर्व कहाँ भू पर?
है कहाँ रोम का ताज आज
उनके शिशुओं के स्वर्ण स्वप्न
जीवित हैं बस वे स्वप्न आज।
थे वृथा, थिरकते से सपने
धुँधले, छायामय, छाया से
चल वात सदृश चलते फिरते
पर जीवित हैं वे स्वप्न आज।
चिन्तन के गहरे गर्त्तों में
जब लीन सकल ऐश्वर्य साज।

मेरी कोलीज ने इसी प्रकार गाया है।

भूतकाल हमारे लिए बहुत से उपहार लाता है, सचमुच, संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान या सत्य के कुछ पहलुओं का ज्ञान, जो कुछ भी आज दिन हमें प्राप्त है वह सब अतीत या समी-पस्थ भूतकाल की हमें देन है। यह उचित है कि भूतकाल के प्रति हम अपनी कृतज्ञता को स्वीकार करें। लेकिन भूतकाल ही तक हमारा कर्तव्य या हमारी कृतज्ञता का अन्त नहीं हो जाता। भविष्य के प्रति भी हमारा कर्तव्य है और भूतनाथ के प्रति हमारे कर्तव्य से भी अधिक बड़ा यह कर्तव्य है। क्योंकि जो होना था वह हो चुका और उसका खातमा हो गया। हम उसे बदल नहीं सकते, भविष्य को तो अभी आना है, और कदाचित् हम उसको किसी अंश तक सुधार-सँवार सकें। यदि भूतकाल ने हमें सत्य का कुछ अंश दिया, तो सत्य के बहुत अंशों को भविष्य भी छिपाये हुए है। और उसको खोज निकालने के लिए वह हमें आमंत्रित करता है। लेकिन प्रायः भूत भविष्य से डाह करता और हमें अपने भीषण चंगुल में पकड़े रहता है। हमें उसके साथ लड़ना पड़ता है, ताकि मुक्त होकर हम भविष्य की ओर उन्मुख होकर अग्रगामी बनें।

हमारे पढ़ाने के लिए, यह कहा गया है, इतिहास के पास, बहुत से पाठ हैं, और एक दूसरी भी कहावत है कि इतिहास अपने आपको दोहराता नहीं है। दोनों ही ठीक है। क्योंकि आँख बन्द कर उसकी नकल करने से, या यह आशा करने से कि वह अपने आपको दोहराये या उसका प्रवाह बन्द हो जाय, हम कुछ नहीं सीख सकते। लेकिन उससे हम कुछ न कुछ अवश्य सीख सकते हैं, यदि हम उसके पीछे झांक कर देखें और उसको संचालित करनेवाली शक्तियों को खोजने की चेष्टा करें। इतने पर भी हमें जो कुछ मिलता है वह कदाचित् ही कभी सीधा-सादा उत्तर होता है। "इतिहास", कार्लमार्क्स कहता है, "पुराने सवालों का और किसी ढंग से उत्तर नहीं देता, बजुज इसके कि वह नये सवाल उपस्थित करे। पुराना जमाना श्रद्धा—अन्धी,

शंकारहित श्रद्धा--का जमाना था। गत सदियों के विस्मयकारी मन्दिर मस्जिदें और गिरजे कदापि न बनते, यदि उनके शिल्पियों, बनानेवालों और जन-साधारण में दुर्जेय श्रद्धा न होती। वे ही पत्थर हमें इस विश्वास का पता देते हैं, जिनको उन्होंने श्रद्धा के साथ एक के ऊपर दूसरे को रक्खा, या जिनमें उन्होंने सुन्दर-सुन्दर चित्रकारी अंकित की। मंदिरों के स्तूप, मस्जिदों की सुकुमार मीनारें, गाथिक गिरजाघर--सब भक्ति की विस्मयोत्पादिनी गम्भीरता से ऊपर की ओर इशारा करते हैं, मानों पत्थर या संगमरमर ऊपर के आकाश की वन्दना कर रहे हों--आज दिन भी हमें पुलकित कर देते हैं, यद्यपि हममें उस प्राचीन श्रद्धा का अभाव है, जिसको वह समूर्त करते हैं। लेकिन उस विश्वास के दिन चले गये और उन्हींके साथ पत्थर का मोहक स्पर्श भी जाता रहा। हजारों मन्दिर, मस्जिदें और गिरजाघर निरन्तर निर्मित होते हैं, लेकिन उनमें उस आत्मा का अभाव है, जो उन्हें मध्यकालीन युग में सजीव करती थी। उनमें और आजकल के व्यापारी इमारतों में जो हमारे युग की प्रतिनिधि हैं--कुछ भी अन्तर नहीं है।

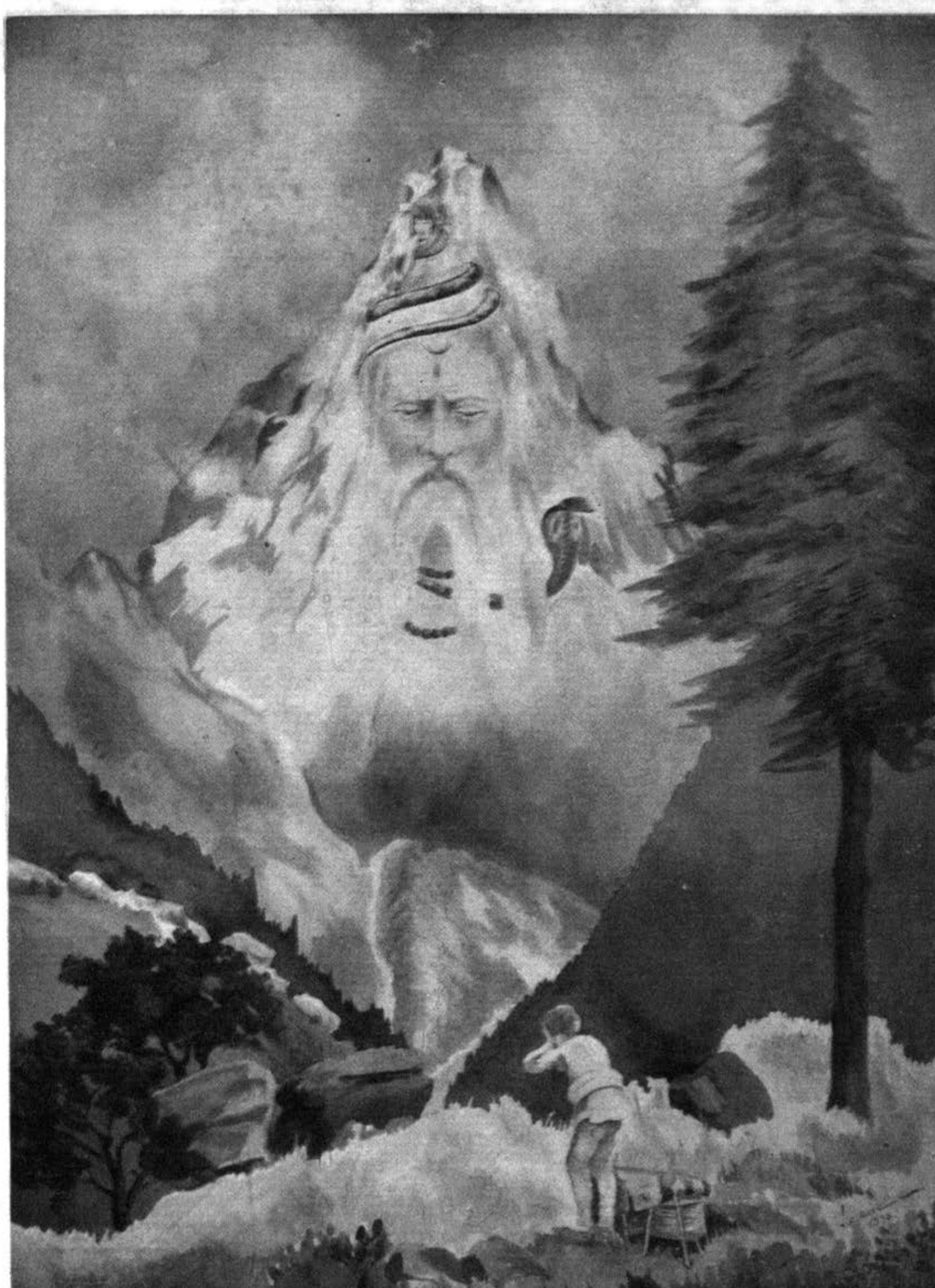
हमारा युग एक भिन्न युग है। यह अविश्वास, संकल्प-विकल्प और संशय का युग है प्राचीन विश्वासों में से बहुतों को हम अब स्वीकार नहीं कर सकते। उनमें हमारा कुछ भी विश्वास नहीं रह गया है--क्या एशिया में, क्या योरप या अमेरिका में। अतएव, नये तरीकों को, शक्ति के उन नवीन पहलुओं को, जो हमारी परिस्थिति के अधिक अनुकूल हैं, हम खोजते हैं। हम एक दूसरे से सवाल पूछते, बहस करते और तरह तरह के वाद और दर्शनों को गढ़ते हैं। जैसे सुकरात के जमाने में वैसे ही अब हम शंका के युग में रह रहे हैं। लेकिन वह शंका एथेन्स के से नगर ही तक परिमित नहीं है, वह जगद्व्यापी है।

कभी-कभी संसार का अन्याय, दुःख निर्दयता हमें सताती है और हमारी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और बाहर निकलने का हमें कोई मार्ग नहीं दिखाई देता है। मैथ्यू आरनाल्ड के साथ हम भी अनुभव करते हैं कि इस संसार में कोई आशा नहीं है, और जो हम कर सकते हैं वह यही है कि एक दूसरे के प्रति हमारा सच्चा व्यवहार हो—

विविध रम्य नूतन स्वप्नों से
सज्जित है आशा का लोक।
किन्तु कहाँ सुख-स्नेह स्वप्न में?
कहाँ अचल विश्वास? ज्योति दृढ़?
कहाँ शान्ति वह, स्वप्न देश में—
हर ले जो उर-उर का शोक?
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से
सज्जित है यद्यपि वह लोक।
हम सब हैं तम-लीन क्षेत्र में—
अनियंत्रित से युद्ध-नाद में,
युद्ध-निरत हैं यहाँ सैन्य-दल,
निशि में, तम में, बिन आलोक!
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से
सज्जित है यद्यपि वह लोक!

और इतने पर भी यदि हम दुःखमय दृष्टिकोण का आश्रय लें तो न तो जीवन और न इतिहास के पाठ को हमने ठीक ठीक पढ़ा होगा क्योंकि इतिहास विकास और प्रगति और मनुष्य के लिए अनन्त उन्नति की सम्भावना का पाठ हमें पढ़ाता है। जीवन सम्पन्न और विभिन्न है, और यदि उसमें दलदल, कीचड़ और सीलन है तो उसमें बड़े बड़े समुद्र भी हैं, पहाड़, हिम, ग्लेसियर, चमत्कारिणी, तारागणों से दीप्त, रजनी (विशेषकर जेलखाने में) और परिवार और मित्रों का स्नेह, समान, संकल्प की सिद्धि में लगे हुए कार्यकर्ताओं की सहकारिता भी है। और हैं संगीत-पुस्तकें और विचारों का साम्राज्य। इस तरह से हममें से हर एक यह पद कह सकता है। प्रभो! यद्यपि मैं पृथ्वी पर रहा, पृथ्वी की संतति था, तो भी मैं नक्षत्रमय आकाश द्वारा पालित-पोषित था।

लोग प्रायः कार्य से बचते हैं क्योंकि वे उसके परिणामों से झिझकते हैं। कार्य का अर्थ जोखिम और खतरा है। खतरा दूर से भयानक मालूम होता है लेकिन वह इतना भयानक नहीं है, यदि हम उसे पास से देखें। और वह प्रायः एक सुखकारी सहचर होता है, जो जीवन को अधिक रसमय और आनन्दपूर्ण बनाता है। जीवन का साधारण क्रम समय समय पर नीरस हो जाता है। और हम बहुत सी बातों को जैसा का तैसा मानकर स्वीकार कर लेते हैं, और तब उनमें कुछ मजा नहीं रह जाता है। लेकिन जीवन की इन्हीं साधारण वस्तुओं का कितना अधिक मोल हमारी आँखों में जँचने लगता है, जब उनके बिना हमें कुछ दिन काटने पड़ते हैं। बहुत से आदमी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ते हैं, और चढ़ाई के आनन्द के लिए



हिमालयरूपी शिव

(चित्रकार—श्री जगदीशचंद्र बोस)



ओंकारेश्वर मान्धाता
(चित्रकार—श्री देवकृष्ण जे० जोशी)

और उस उच्छ्वास के लिए जो किसी कठिनता को जीतने या किसी आपत्ति पर विजयी होने पर प्राप्त होता है, अपने चारों ओर खतरा मँडराया करता है, उनकी दृष्टि अधिक पैनी हो जाती है और जीवन में उनका आनन्द अधिक गम्भीर हो जाता है क्योंकि तब उनके प्राण एक धागे के सहारे लटका करते हैं।

हममें से प्रत्येक को यह आजादी है कि चाहें तो हम नीचे खाड़ियों में रहें जहाँ रोगोत्पादक कुहरा और पाला है, लेकिन जहाँ जान का जोखिम कम है, या जोखिम और खतरे को अपना साथी बनाकर पहाड़ों के ऊपर चढ़ जायें ताकि ऊपर की शुद्ध वायु का पान करें और दूर दूर के दृश्यों को देखें और उदय होते हुए सूर्य का स्वागत करें।

समाप्त कर चुका, प्रियतमे। और यह अन्तिम पत्र भी खत्म हो गया। अन्तिम पत्र। निःसन्देह नहीं। मैं तुम्हें बहुत से पत्र लिखूँगा लेकिन इस पत्रमाला का अब अन्त होता है, और अतएव, तमाम शुद।

१९३४

❀ ❀ ❀

पानी में भी मीन पियासी

श्री घनश्यामदास बिड़ला

जैसा कि इस लेख के शीर्षक से विदित है, वर्तमान आर्थिक संकट अनजान लोगों के लिए एक अजीब पहेली है। इसके पहले भी आर्थिक संकट आते थे, किन्तु उनका जन्म किसी प्रकार के दैवी या मानुषीय प्रकोप, महामारी, अग्निप्रलय, जलप्रलय, अनावृष्टि, भूकम्प, राजविप्लव ऐसे-ऐसे कारणों से होता था। कारण मिट जाने पर स्थिति सुधर जाती थी। उस समय रेल, तार न होने के कारण दुनिया आज की तरह छोटी न थी, स्थानीय कष्ट अपनी सीमा के भीतर ही कष्टप्रद होते थे। किन्तु आज के आर्थिक संकट का ढंग कुछ अनोखा है। न महामारी है, न प्लेग है, न राजविप्लव है, न अनावृष्टि या अतिवृष्टि है, न अग्निप्रलय है, भूकम्प तो अभी हाल ही में हुआ है, फिर भी चारों ओर से तबाही की आवाज आती है। खेत धान्य से भरे हुए हैं, किन्तु पेट खाली है। माल बेचनेवाले लालायित हैं, गोदाम ठसाठस भरे हुए हैं, उधर लेनेवाले चीजों के लिए तरस रहे हैं। चीजें सस्ती हैं, किन्तु गाँठ में दाम नहीं। सामने हलवे से भरी थाली रक्खी है और पेट में भूख है, परन्तु हाथ बँधे हैं और होंठ सी दिये गये हैं। ऐसी ही आज की हालत है। पुराने जमाने में जब फसल की बहुतायत होती थी और दाम मंदे होते थे तब उसे लोग सुकाल कहते थे। आज भी चीजों की बहुतायत है, दाम भी मंदे हैं, तो भी सुकाल नहीं, दुकाल है। अमेरिका में "चीजें कम पैदा करो" इसकी धूम है। यहाँ भी "पाट कम बोओ", "गेहूँ कम बोओ" ऐसी सलाह देनेवालों की कमी नहीं। जहाँ सुभिक्ष की चाह थी, वहाँ दुर्भिक्ष में मुक्ति सूझती है। कल-कारखानेवालों ने तो पैदाइश कम करके अपनी स्थिति सुधार ली है। उदाहरणार्थ चाय और चटकलवालों ने ऐसा किया है और कोयलेवाले करने की तैयारी में हैं। किसानों में इतना एका नहीं कि इस तरह बन्धेज के साथ पैदाइश घटा लें; तो भी वे कुछ इसी तरह की फिक्र में हैं। क्या अजब जमाना है। जहाँ बहुतायत के लिए लोग तड़फते थे, वहाँ बहुतायत के मारे लोग परेशान हैं।

यह क्यों? इसी का यहाँ विवेचन करना है।

आगे बढ़ने से पहले हम सिक्के की करामात को कुछ समझ लें। जब हम कहते हैं कि वस्तुओं के दाम गिर गये या चढ़ गये हैं तब हमारा मतलब यह होता है कि वस्तुओं की अमुक माप या तौल के लिए हमको कम या अधिक परिमाण में सिक्के देने पड़ते हैं। मतलब यह है कि चीजों के दाम की माप का एक-मात्र साधन इस समय सिक्का है। इसलिए यदि सिक्के के रहस्य को न समझा तो तेजी-मंदी का खेल समझना आसान नहीं। और यह कोई जटिल प्रश्न भी नहीं है। झूठ-मूठ लोगों ने इसे जटिल विषय मान लिया है। अच्छा, सिक्के के बारे में एक भ्रांत धारणा तो यह है कि सिक्के के दाम स्थिर हैं। उदाहरण के लिए लोग समझते हैं कि एक रुपये के १६

आने और ६४ पैसे बँधे हैं इसलिए इसके दाम स्थिर हैं। किन्तु यह एक बड़ी भारी गलत-फहमी है। यदि हम यह कहें कि आध सेर पानी की कीमत आध सेर जल है तो इससे यह साबित नहीं होता कि कीमत स्थिर है। पानी की कीमत मापने में आप पानी को ही मापदंड नहीं बना सकते। तो फिर सिक्के की कीमत मापने में उसी के अंग १६ आने या चौंसठ पैसे को क्यों मापदंड माना जाय? जैसे हम चीजों की कीमत की माप सिक्के से करते हैं, वैसे ही सिक्के की कीमत की माप वस्तुओं से ही हो सकती है। और जब हम सिक्के को वस्तुओं से मापेंगे तब पता चलेगा कि सिक्के की दर वस्तुओं से कहीं अधिक अस्थिर है। मान लीजिए कि हम एक ऐसे मुल्क में पहुँच गये हैं जहाँ सोना चारों तरफ मिट्टी की तरह पड़ा हो और अन्न की काफी तंगी हो तो यह कहा जायगा कि वहां अन्न खूब महँगा है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सोना वहाँ काफी सस्ता है। अलास्का वगैरह में जब नई-नई सोने की खान निकली थी, यही हाल था। मिट्टी में मिला हुआ सोना तो चारों तरफ नजर आता था, पर खाने-पीने की चीजों की इतनी तंगी थी कि एक पैसे की चीज एक रुपया तक बिकती थी। सिक्के की भी वहाँ कमी थी, अक्सर लोग दाम चुकाने में सोने की मिट्टी का प्रयोग किया करते थे। वहाँ यह कहा जा सकता था कि चीजें बहुत महँगी थीं। यह भी कहा जा सकता था कि सोना बहुत सस्ता था। दोनों के माने एक ही हुए। इसी तरह आज की मंदी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि चीजें बहुत सस्ती हैं। और दूसरे शब्दों में इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि सिक्का बहुत महँगा है। सिक्का इस समय संसार में सोने का प्रतिनिधि है, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सोना बहुत महँगा है। राम कहो या रहीम कहो, जैसे ये दोनों शब्द एक ही कर्तार के द्योतक हैं, इसी तरह चीजों का दाम मंदा है यह कहो चाहे सिक्का महँगा है यह कहो, दोनों वाक्य एक ही स्थिति के द्योतक हैं। इतना कहने पर यह समझ में आ जायगा कि सिक्के की महँगी के कारण यह मंदी है और सिक्का सस्ता होने से चीजों के दाम बढ़ेंगे।

चीजों की पैदाइश कम करने से भी महँगी आती है। पैदाइश कम करने से जैसे "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी", वैसे न रहेंगी चीजें, न होगी सिक्के की माँग। इस हिसाब से सिक्के की कमी होते हुए भी अपेक्षाकृत बहुतायत हो जाती है और चीजों की महँगी आ जाती है, किन्तु जो महँगी कम पैदाइश से होती है वह आमवात रोग का मोटापा है और जो महँगापन उपज की वृद्धि के साथ सिक्कों की बहुतायत से होता है वह स्वास्थ्यकर वृद्धि है। १९०० से १९२० तक चीजों की उपज बढ़ी, दाम भी बढ़े क्योंकि सिक्कों की तंगी न थी। उन वर्षों में नई-नई सोने की खानें खोज निकाली गईं और इसलिए सोने या उसके प्रतिनिधि सिक्कों की कमी न होने पाई। १९२० से १९२९ तक चीजों की पैदाइश बढ़ी, दाम घटे, क्योंकि पैदाइश के हिसाब से सिक्कों का चलन नहीं बढ़ा। सोने की कोई नई खान नहीं निकली इसलिए सोने की उपज न बढ़ी और इसलिए सिक्कों की तंगी १९२९ के बाद महसूस होने लगी। फलस्वरूप दाम गिरने शुरू हुए। मंदीवाड़े में चीजों की उपज घटनी स्वाभाविक थी। दाम भी घटे और उपज भी घटी। यह डबल मार हुई।

एक यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है। माना कि सिक्का दामों को मापता है और सिक्के की महँगी के कारण वर्तमान समय में इतनी मंदी है और सिक्के की बहुतायत होने से तेजी भी आ सकती है, पर क्या कोई और तरीका इस अर्थसंकट में से निकलने का नहीं, क्या सिक्के की अवहेलना करके हम इस पाश में से नहीं निकल सकते? हाँ, यदि सिक्के की अवहेलना करें तो। किन्तु जब तक कानून हम पर सिक्के का साम्राज्य लादता है तब तक हम इसकी अवहेलना नहीं कर सकते। आज सिक्का कानूनन हमारे जीवन की हर हरकत में गुँथा हुआ है। सिक्के का मौजूदा कार्यक्षेत्र यह है–

(१) सिक्का खरीद का साधन है। (आज हम चीजों का दाम चीजों में नहीं चुका सकते, किन्तु सिक्के में चुकाना पड़ता है।)

(२) सिक्का दामों को मापता है (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है)।

(३) सिक्का धन की खान है। (संग्रह करके रखने में या साहूकार के पास जमा रखने से)।

(४) सिक्का कर चुकाने का जरिया है। (कर्ज सिक्के में लेते हैं। अदा करने की जिम्मेवारी सिक्के में है। कर सिक्के में बँधा है। जिन्स में कर्ज निश्चित हो

और कर भी जिन्स में चुकाया जा सके तो सिक्के की शरण न लेनी पड़े)।

प्राचीन समय में इसका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था। उस जमाने में नौकरों की नौकरी जिन्स में चुकाई जाती थी और जिन्सों का दाम जिन्सों में चुकाया जाता था। उधार का लेन-देन भी जिन्सों में काफी हो जाता था और जमीन की मालगुजारी जिन्सों में चुकाई जाती थी। सिक्का विशषतया धन की खान ही था, इसलिए उसका कार्य-क्षेत्र संकुचित था। पर अब वह बात नहीं रही। आपके पास लाखों मन गल्ला मौजूद हो, किन्तु जब तक उस गल्ले को सिक्के में नहीं बदलवा लेते तब तक न तो आप मालगुजारी अदा कर सकते हैं, न नौकरों की तनख्वाह चुका सकते हैं, न कपड़ा खरीद सकते हैं और न अपना कर्ज ही अदा कर सकते हैं। यदि किसान की मालगुजारी सिक्कों में बँधी न होकर खेती की उपज में बँधी होती तो आज उसे कोई कष्ट न होता। किन्तु वैसा नहीं है। आधुनिक सभ्यता ने हम पर सिक्के का साम्राज्य स्थापित कर दिया है। इस कारण हर चीज को दूसरी चीज से बदलने के लिए हमें पहले सिक्के की शरण लेनी पड़ती है।

यह भी जान लेना चाहिए कि जब तक सिक्के का सोने से सम्बन्ध है, इसको सस्ता करना भी आसान काम नहीं। सोना एक परिमित तादाद में पैदा होता है। अन्य चीजों की उपज जिस तरह से बढ़ी उसी रफ्तार से सोने की उपज नहीं बढ़ी। नतीजा यह हुआ कि लोगों को जब सिक्के की अधिक आवश्यकता पड़ी तब सोना इतने सिक्के नहीं दे सका, परिणाम यह हुआ कि सोना महँगा हो गया और चीजें मंदी हो गई, हालांकि जैसे जैसे सिक्के का कार्य-क्षेत्र बढ़ा, वैसे-वैसे उसकी तादाद बढ़ाने की कोशिश भी की गई। जहाँ सिक्का खुद नहीं पहुँच सका, वहाँ सिक्के के प्रतिनिधि नोट इत्यादि पहुँचे, परन्तु अन्त में प्रतिनिधियों को भी सीमाबद्ध ही रखना पड़ता है। यदि एक सिक्के के बेहद प्रतिनिधि बन जायँ तो स्वभावतया सिक्के की वक़त घटेगी। इसलिए प्रतिनिधियों को भी सीमाबद्ध रखना आवश्यक हो जाता है। जहाँ सीमा का उल्लंघन किया कि सिक्के की कीमत घटी और उसकी कीमत के घटने अर्थात् दाम के गिरने से चीजों के दाम अपने आप बढ़ते हैं। लड़ाई में जब सिक्के की कमी महसूस होने लगी तब तो अमेरिका को छोड़ कर अन्यान्य सभी राष्ट्रों ने सिक्के के प्रतिनिधि परिमाण से अधिक पैदा कर दिये (Inflation)। नतीजा यह हुआ कि सिक्के की इज्जत घट गई और सोने से उसका साथ छूट गया (Off the Gold Standard) और चीजों के दाम बुरी तरह से चढ़ गये। लड़ाई के बाद सब राष्ट्रों ने सिक्के को फिर सोने के साथ बांध कर (Reversion to the Gold Standard) प्रतिनिधियों को सीमाबद्ध करना शुरू किया (Deflation) और जब चीजों की उपज बढ़ने लगी और सिक्के की माँग बढ़ी और सिक्का या उसके प्रतिनिधि सब जगह नहीं पहुँच पाये तब चीजों का दाम गिरना शुरू हुआ।

अब साफ समझ में आ जायगा कि दाम कैसे गिरे और क्यों गिरे। अब यह भी समझ में आ जायगा कि यह आर्थिक संकट क्यों हुआ। यदि दामों के गिरने के साथ-साथ मालगुजारी, कर, कर्ज, ब्याज, तनख्वाह जैसी देनदारियाँ—जिनका देना सिक्के के रूप में निश्चित है—किसी कानून-द्वारा घटा दी जा सकती तो यह आर्थिक संकट कभी न होता। अगर किसान को अपनी पैदावार की कीमत सिक्के में कम मिलती तो साथ ही मालगुजारी, कर्ज और सूद भी कम देना पड़ता। किन्तु मालगुजारी, कर्ज, सूद और तनख्वाह वगैरह सिक्कों में बँधे हुए हैं, इसीलिए एक ही तादाद में चुकाने पड़ते हैं। उधर जिन्सों की कीमत सिक्कों में कम हो गई और तलपट में घाटा पड़ना अनिवार्य हो गया, और जब तक तलपट के दोनों पासों में फिर समानता स्थापित न की जायगी, यह आर्थिक संकट जारी ही रहेगा। जो लोग हुंडी की दर गिराना चाहते हैं, सिक्के को सस्ता करना चाहते हैं, उनकी यही मंशा है।

अमेरिका, इँग्लैंड, जापान वगैरह मुल्कों ने इन वर्षों में सिक्के का सोने से सम्बन्ध-विच्छेद करके उसकी इज्जत और कीमत इसी लिए गिराई है कि चीजों के दाम चढ़ें। कुछ दाम चढ़े भी हैं, परन्तु बहुत नहीं। बात यह है कि जब तक सिक्के के दाम इतने न गिराये जायँगे कि आवश्यकता के अनुसार सबको मिलना सुलभ हो जाय, दामों का चढ़ना असंभव है। जो लोग हुंडी की दर को १८ पेंस से १६ पेंस करना चाहते हैं उनसे मैं सहमत नहीं। मेरा अपना ख्याल है कि हुंडी की दर इतनी ज्यादा

गिरा दी जानी चाहिए और तब तक गिराते चले जाना चाहिए जब तक दाम सन् १९२६ के दामों की सतह पर न आ जायँ।

संक्षेप में इस पहेली का उत्तर यह है—

(१) सिक्का दामों की माप का एक-मात्र साधन है।

(२) चीजों की उपज बढ़ी, परन्तु उस हिसाब से सोने या उसके प्रतिनिधियों का चलन नहीं बढ़ा।

(३) इसके कारण सिक्के की तंगी हुई।

(४) फलस्वरूप दाम गिरे।

(५) किन्तु कर, कर्ज, मजदूरी और सिक्के में निश्चित देनदारी में कोई कमी नहीं हुई।

(६) नतीजा यह हुआ कि पैदाइश करनेवाले लोगों और कर्जदारों की, किसानों की और कलवालों की हानि हुई। चीज खरीदनेवालों और पावनेदारों को, साहूकार, सरकार, नौकरीपेशा, जमींदार (यदि मालगुजारी पूरी आती हो तो) बैंक, बीमा-कम्पनी को लाभ हुआ।

क्षतिग्रस्त लोग ही अधिक संख्या के हैं, इसीलिए मौजूदा हालत को "पानी में भी मीन पियासी" कहना उपयुक्त है।

अब इस मर्ज की दवा क्या है। दवा तो है, पर सत्ता नहीं है। बिना सत्ता के दवा खाने को हम किसे बाध्य करें? तलपट के दोनों पासों में समानता स्थापित हो, यही उद्देश होना चाहिए। एक तरीका यह है कि हम कर्ज, मालगुजारी, वेतन, ब्याज को उतने ही परिमाण में कानूनन कम कर दें जितने कि दाम गिरे हैं। दूसरा तरीका यह है कि हम दाम उतने ऊँचे कर दें जितने कि १९२६ के करीब थे। दूसरा ज्यादा व्यावहारिक है। पर दाम कैसे चढ़ें? सिक्का सस्ता होने से। सिक्का कैसे सस्ता हो? यह विचारणीय प्रश्न है।

सिक्का सस्ता करने का एक तरीका तो यह है कि हम इसके सोने के प्रतिनिधित्व को कम कर दें। जिस समय हमारा सिक्का सोने से बँधा था (२० सितम्बर सन् १९३१ के पहले) उस समय हमारा एक रुपया ८·४७ ग्रेन सोने का प्रतिनिधि था। १ शि० ६ पें० के विलायती सिक्के भी उतने ही ग्रेन सोने के प्रतिनिधि थे। इसी से यह कहा जाता था कि हमारे रुपये को १ शि० ६पें० की हुंडी से बाँध रक्खा है। सितम्बर सन् १९३१ में जब इँग्लैंड के सिक्के ने सोने का साथ छोड़ा तब हमारे रुपये ने भी सोने से तो सम्बन्ध भंग कर लिया, मगर सोने को छोड़ कर भी उसे स्वतंत्रता न मिली। सरकार ने जबरन उसका नाता स्टर्लिंग से अर्थात् अँगरेजी सिक्के से जोड़ दिया। इस समय हमारा रुपया १ शि० ६ पें० अँगरेजी सिक्के का प्रतिनिधि है। अब यदि रुपये को सस्ता बनाना हो तो क्या करना होगा?

एक तो यह तरीका हो सकता है कि जहाँ पहले हमारे सिक्के की कीमत ८·४७ ग्रेन सोना था, वहाँ अब उसका प्रतिनिधित्व घटाकर हम उसकी कीमत केवल ४·२३ ग्रेन सोना ही रख दें। उसका नतीजा यह होगा कि सिक्के की बहुतायत होगी, इसकी कीमत स्वभावतः पहले से सस्ती होगी और चीजों के दाम चढ़ेंगे। कितना चढ़ेंगे, यह कोई नहीं बता सकता। इसलिए यह दवा पूरी कारगर होगी, इसका कोई निश्चय नहीं। और यह भी कहा जा सकता है कि दाम चढ़के फिर तो नहीं गिर जायँगे। इसका भी कोई निश्चय नहीं। सोने की नई-नई खानें तो निकलती ही नहीं। चीजों की उपज बढ़ने पर यदि यह सस्ता किया हुआ सिक्का भी सब जगह न पहुँच सके तो फिर दाम गिरने लगेंगे। इसलिए रामबाण औषध तो यह होगी कि सिक्का का सदा के लिए सोने से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाये। सोना खाया जा सकता नहीं (हाँ, वैद्य और हकीम कभी-कभी औषध के रूप में इसे खिलाते हैं, पर इसके ऊपर भी घी-मक्खन की जरूरत पड़ती है), पीया जा सकता नहीं, पहना जा सकता नहीं। खूबसूरती में भी यह ऐसी कौन-सी लाजवाब चीज है? फिर सिक्का सोने का ही प्रतिनिधि क्यों हो? सिक्का आटा, दाल, गेहूँ, कपड़ा, मक्खन, तेल, नमक, शक्कर का और विशेषकर कायिक परिश्रम का ही प्रतिनिधि क्यों न हो? सिक्के की कीमत मापने के लिए जहाँ हम सोने का उपयोग करते हैं, वहाँ हम जिन्सों का उपयोग क्यों न करें? इसके बजाय कि रुपया इतने ग्रेन सोने का प्रतिनिधि हो, यह इतने सेर गेहूँ, इतने छटाँक घी, शक्कर या अन्य वस्तु का ही प्रतिनिधि क्यों न हो जाय। सोने की खानें सिक्के के चलने के लिए अपर्याप्त हो सकती हैं, किन्तु जिन्सों की कमी कभी नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक खेत रहेंगे और अन्य तरह की अनेक चीजों की पैदाइश रहेगी।

इसलिए सिक्के का मुवक्किल सोना न होकर जिन्स हो, तभी सिक्का सदा के लिए बहुतायत से चलन में रह सकता है। तभी सिक्का सुलभ हो सकता है, तभी चीजों के दाम स्थिर और तलपट के दोनों पासे समान रह सकते हैं। अनुचित मंदी और तेजी की रुकावट भी तभी रह सकती है जब सिक्का सोने का प्रतिनिधि न होकर जिन्सों का प्रतिनिधि हो।

संक्षेप में सिक्का सोने से नाता तोड़कर यदि जिन्सों का प्रतिनिधि हो तो--

(१) सिक्के की बहुतायत होगी।
(२) फलस्वरूप चीजों की अधिक मंदी या तेजी सदा के लिए नेस्तनाबूद हो जायगी।
(३) समाज के तलपट के दोनों पासों में एक हद्द तक समानता होगी।
(४) इस अर्थसंकट का एक हद्द तक नाश होगा। एक हद्द तक मैंने इसलिए कहा है कि और भी कई कारण अर्थसंकट के हैं, जिनके मिटने पर ही अर्थ-संकट का पूरा खातमा हो सकता है। किन्तु सिक्का इसमें एक प्रधान कारण है, इसके सुधार से स्थिति बहुत कुछ सुधर सकती है।

मगर यह तो कोरी बकवास हुई। आज कौन पूछता है? असल में तो होगा वही जो होर साहब या उनके जाँनशीन चाहेंगे।

"बूट डासन ने बनाया मैंने एक मजमूँ लिखा।
मुल्क में मजमूँ न फैला और जूता चल गया॥"
खैर, मजमूँ ही सही।

१९३४

❀ ❀ ❀

नाटक-समस्या

श्रीयुत सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

आकाश की नील नीलम-ताराओं से टँकी छत, शुभ्र चन्द्र और सूर्य का शीतोष्ण शुचितर रश्मिपात, नीचे विश्व का विस्तृत रंगमंच, रंगीन सहस्रों दृश्य शैल-शिखरों, समुद्र-रश्मियों, अरण्य-शीर्षों पर छायालोक पात करते प्रति पल बदलते हुए, दिन और रात धूप और छाँह, पक्ष और ऋतुओं के उठते-गिरते हुए बहुरंग पर्दे, क्षण क्षण विश्व पर अपार ऐन्द्रजालिक शक्ति परियों-सी पंख खोलकर कलियों में खिलती, केशर-परागों से युक्त प्रकाश में उड़ती, रँगे कपड़े बदलती, दिशाओं के आयत दृगों में हँसती, झरनों में गाती, पुनः अज्ञाततम में अन्तर्धान होकर तादात्म्य प्राप्त करती हुई, हास्य और रोदन, वियोग और मिलन, मौन तथा वीक्षण के नव-रसाश्रित मधुर और भीषण कलरवोद्‌गारों से जीव-जन्तु स्वाभाविक अभिनय करते हुए, यह ईश्वरीय यथार्थ नाटक है--एक ही सर की सरस सृष्टि सरस्वती।

चिर काल से अनुकरणशील मनुष्य-समुदाय इसी की सार्थकता करता जा रहा है। सृष्टि की भिन्नता, भावों के मिश्रण और कला की गति-भंगियों के भीतर चलकर एक इसी आदर्श की पुष्टि उसने की है। केवल सत्य के नाम और परिणाम भिन्न-भिन्न रख दिये हैं। कहीं वह प्रेम है, कहीं अनादि दर्शन; कहीं सामाजिकता, सुधार या परिवर्तन, कहीं प्रतिकूल वैराग्य और त्याग, कालिदास और भवभूति, शेक्सपियर और गेटे इन्हीं कारणों से पृथक् पृथक् हैं।

परन्तु एक प्रतिकूल शक्ति भी है, इसीलिए मनुष्य और पशु में भेद है। आँखों की दिव्य ज्योति की तरफ़ न देखकर महिलाओं के अंगों की तरफ़ देखते हुए मुग्ध मनुष्य क्रमशः पतित होने लगे। इसी गिरी निगाह का परिणाम मनुष्येतर प्राणियों में प्रत्यक्ष होता है। बौद्धकाल के पहले से ही यह जाति गिरने लगी थी। अनेकानेक धर्म्माचार्यों तथा साहित्यिकों ने उठाने के प्रयत्न किये, पर असफल रहे। क्योंकि जाति ने जल की तरह क्रमशः निम्नतर भूमि से होकर ही बहना पसन्द किया। शंकर पर रामानुज और भवभूति पर कालिदास का जो आज देश के जनसमूह में आधिपत्य

है, इसका यही कारण है। क्रमशः ब्रजभाषा-साहित्य तक कृष्ण और गोपियों के दिव्य प्रेम की भावना सूर्य से च्युत पृथ्वी की तरह पंकिल हो गई। हमारे पतन के नाटक का प्राकृत परिणाम यहीं तक नहीं, और कठिन पत्थर के रूप में बदल गया।

पहले बौद्धों के विरुद्ध वर्णाश्रम धर्म की चिरन्तन रक्षा के विचार से पुराणों तथा राम, कृष्ण आदि आदर्श चरित्रों की कल्पक-सृष्टि के साथ-साथ संस्कृत के बाँधों के भीतर सागर का उल्लेख करते हुए जो सरोवर इस जाति की भूमि पर लहराया गया था, वह अपनी ही कृत्रिमता के कारण सूखने लगा। उन भावों की अधिकांश जलाशयता पीड़ित द्विजेतर जनों के दुख की गर्म साँसों से सूख गई। आज वही भूमि रेगिस्तान की तरह तप रही है।

वर्णाश्रम-धर्म के इन्हीं कारणों से जीर्ण जातीय शक्ति का राजप्रासाद मुसलमानों के वज्र-प्रहारों से भू-लुण्ठित हो गया। इसके बाद शासन के साम्य-दर्शन का प्रचार कर अँगरेजों ने इस टूटी इमारत के बचे हुए छोटे-बड़े पिण्डों से भी एक एक ईंट अलग कर दी।

इस विवर्तन के साथ कितना इतिहास, कितनी संस्कृति, कितना त्याग और कितनी तपस्या है, ख़िज़ाँ के इस समय बहार के उन दिनों की कल्पना-जल्पना जगकर स्वप्न देखने की आदत या धार्मिक अफ़यून-सेवन का परिणाम पिनक कही जायगी। पुनः जहाँ तक इतिहास की गति है अथवा १९९० वर्ष पहले या चार छः सौ साल और दूर अतीत तक, मुमकिन है, बहार न मिलकर मुरझाते हुए जातीय तथा धार्मिक पद्मवन का हेमन्त हो, और डाल पर कोयलों की जगह ताल के किनारे बगले मिलें।

इसलिए हमें आज से विचार करना है। विचार की शुद्धि तब हो सकती है जब वह हवा की तरह सबके हृदय से लगे, चाँदनी की तरह सबकी आँखें ठंडी कर दे। आज राष्ट्रभाषा के भीतर से जिस राष्ट्र का उत्थान अपेक्षित है, वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों या अपर किसी भारतीय जाति अथवा धर्म का राष्ट्र नहीं, उसके आराध्य राम या कृष्ण नहीं—विशेषतः उन रूपों से जिनका अधिकांश जनों में आज तक समादर रहा है। जिस प्रकृति ने हिन्दुओं के प्राचीन हाथीचिंग्घाड़ सम्मेलन का एक एक तार सहस्रों संघातों से कूटकूटकर अलग कर दिया है, वही उसकी बनी रस्सी से स्वार्थ-मुखर स्वर-पशुओं के बाँधने की ओर पुनः पुनः इंगित भी कर रही है। अब इन कूटे हुए तारों में ब्राह्मण-तार और क्षत्रिय-तार चुन चुनकर रस्सी बटना अस्वाभाविक है और मूर्खता भी। तारों की गुण-धर्म-समता को समझने-वाला ऐसा नहीं कर सकता। यह समय का व्यर्थ व्यय होगा। यह भावना राष्ट्रभाषा के सच्चे सेवक की होनी चाहिए। यहीं वह ठहरता और यहीं से चित्रण करता है।

अभिनय के व्यापक अर्थ में साहित्य के सभी विषय आ जाते हैं। भावना या किसी भी प्रकार की मानसिक सृष्टि हो, खून को एक एक बूंद उसकी गति पर ताल देती हुई देह के रंगस्थल पर अभिनय करती रहती है, बाहर शब्द शब्द, वाक्य वाक्य और विषय विषय। किसी जीवन के भिन्न-भावानुसार एक अभिनय की तरह साहित्य का भी जीवन उसकी पूर्ति के भावों से भरकर एक ही नाटक है।

जिस प्रकार मेघ-मुक्त होकर किसी भी देश का जल देश की मिट्टी को छूने से पहले तक एक ही सा निर्म्मल और दोषरहित रहता है, यदि हवा में उड़ते हुए सूक्ष्माति-सूक्ष्म दूषित बीजों का मिश्रण छोड़ दें, उसी प्रकार एक मात्र मनुष्यता के आधार पर किसी राष्ट्र का सच्चा साहित्यिक है—सभी राष्ट्रों को बराबर प्यार करनेवाला—मनुष्य-मात्र का मित्र। विचार की इससे बढ़कर दूसरी शुद्धि नहीं हो सकती।

इसी शुद्धि के स्नात, शिक्षा की अग्नि में पूर्व-संस्कारों का हवन कर तेजस्वी, विश्व-प्रकृति के पुत्र प्रज्ञाचक्षु युवकों की हमारे साहित्य को आवश्यकता है। जनता इनकी रुचि के अनुसार आप तैयार होगी। इनकी रुचि ऋतु की तरह अपने ही प्रभाव में समाज को ढँक लेगी। तभी हमारे साहित्य का सर्वांग नाटक पूरा होगा, जनता युग के अनुकूल होगी। आज जिस प्रभाव से हमारा साहित्य, हमारा समाज जीवन्मृत हो रहा है, आज की रात में वह जिन दिवा-संस्कारों के स्वप्न देख रहा है, वह प्रभाव दो हजार वर्ष से भी पहले डाला गया था, वे दिवस-संस्कार तभी के निर्मित हैं। हजार वर्ष से तो यहाँ रात ही रात है। समस्त पुराण, अधिकांश स्मृतियाँ तथा भास, कालिदास, श्रीहर्ष आदि आदि कवि जिस संस्कृति के द्वारा देश को बौद्धों के विरुद्ध एक दूसरे जीवन से प्रबुद्ध कर गये हैं, हमारे साहित्यिक, हमारा समाज, हमारे वर्ण-धर्मवाले आज उसके स्वप्न देख रहे हैं। नवीन जागृति की क्रियाशीलता वहाँ कहाँ? वहाँ तो तमोवृत केवल संस्कार ही संस्कार हैं,

जहाँ केवल मस्तिष्क-दौर्बल्य की सूचना प्राप्त होती है। जिन कवियों ने आज राम और कृष्ण पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने राम और कृष्ण के प्रचलित संस्कारों की ही पुष्टि की है, राम और कृष्ण को ठीक ठीक समझकर नहीं लिखा। वे समझते भी नहीं। मुझे इसके पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं। जहाँ संस्कारों के पीछे कवि और लेखकों का ही मनोविज्ञान अन्धकार में डूब रहा हो, वहाँ जनता के लिए क्या कहा जाय ? उसे तो मुक्ति बाद को मिलती है। किसी पुस्तक की चार हजार प्रतियाँ बिक गईं, इसके ये मानी नहीं कि उससे साहित्य के उद्धार को भी सहायता मिली। संस्कारों के वश समाज होता ही है। वह अपनी रुचि के अनुसार चलता है, पर साहित्य का सच्चा स्थान वहाँ है जहाँ रुचि बदलती है, पहले से पृथक होकर भी सब तरह अच्छा, जोरदार, सहृदय, संस्कृत, वैज्ञानिक चित्र सामने रखती है, जनता या समाज के मन में संस्कार के अलावा एक सत्ता और है जो सच और झूठ का निर्णय करती है। वही सत्ता ऐसे चित्र की तरफ खिंचती है, इसी प्रकार धीरे-धीरे नवीन प्रकाश अँधेरे के भीतर से फैलता है। साहित्य जाति में जागृति का युग पैदा कर देता है। तब चारों ओर से विशद विचारों के स्वाधीन चित्र देखने को मिलते हैं। यही साहित्य का व्यापक सच्चा नाटक है।

नाटक की व्यापकता पर जैसा कहा गया, वैसा ही प्रचलित नाटक के लिए भी कहा जा सकता है। केवल नाटक में वे सभी गुण सन्निहित होते हैं जो पूर्ण साहित्य के लिए आवश्यक हैं। काव्य, संगीत, साहित्य, नृत्य, कला-कौशल, दर्शन, इतिहास, विज्ञान, समाज, राजनीति, धर्म आदि जितने विषय सभ्यता के अंग हो रहे हैं जिनके आधार पर बड़े बड़े राष्ट्रों को सिर उठाकर देखने का गर्व है, वे सभी नाटक-समस्या की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। जितने भाव सम्पूर्ण विश्व पर बदलते हैं, समस्त संसार शीत-ताप, जल-वायु आदि से ऋतुओं के जितने दृश्य देखता है, जितने उपद्रव, झोंके आदि सहता है, उतने ही एक कण भी देखता और सहता है। अतः साहित्य के सर्वांग उत्कर्ष के कारण केवल नाटक-साहित्य में भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं। यह ठीक है कि वर्गीयता के समय नाटक अपने ही विभाग में रहेगा, पर यह निश्चित है कि उसमें सभी साहित्यिक गुणों की गणना हो जायगी।

यौवनोपगम के समय जिस तरह कण्ठ-स्वर बदल जाता है, उसी तरह नाटकों द्वारा जाति का सम्पूर्ण जीवन पुष्ट होता है। उस समय अपनी शक्ति, अपने सौन्दर्य, भाव, भाषा, चाल-चलन, आचार-विचार सभी नये अक्षरों से छपे हुए ग्रन्थों की तरह, स्पष्ट तथा मनोहर होकर अपनी सत्ता से दूसरों को प्रभावित करते हैं। यह नवीनता एक ही तरफ की नहीं, पतझड़ के बाद वसन्त की तरह सभी तरफ की है; जाति को आत्मा के भीतर से संस्कृत कर देती है। तब बाल्य का स्वर पहचाननेवाले मनुष्य उस स्वर को एकाएक सुनकर नहीं समझ पाते कि यह उसी साहित्य का कण्ठ-स्वर है, जिसे वे कुछ दिन पहले तक सुन रहे थे; इन आँखों की अपराजिता ज्योति को देखकर वे नहीं समझ सकते कि ये वही आँखें हैं जो बाल्य के कोमल अक्षय सारल्य से सजी थीं—यह वही देह है जो दूसरे की सहायता से न चलकर स्वयं रास्ता पार करने को उद्यत है।

यह स्वर काव्य आदि के भीतर से तो कुछ हद तक हमारे साहित्य में सुन पड़ा, पर रंगमञ्च के ऊपर से बिल्कुल नहीं सुन पड़ा। इसका एक कारण यह भी है कि जब तक किसी भाव का बहुत काफी प्रचार नहीं हो जाता, उसकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित नहीं होता। लोगों के कहने के अनुसार इधर दस बारह साल से हिन्दी में नवीनता का प्रवाह है। इतने ही समय के अन्दर यह आशा करना कि नाटकों से नवीन भावों को सुनकर समझने के लिए जनता तैयार हो चुकी है, दुराशामात्र है। अभी तो पढ़े-लिखे भी बहुत कम लोग नवीनता को समझ सके हैं। इतना कहा जा सकता है कि क्षेत्र अब बहुत कुछ तैयार हो आया है।

आज तक जो नाटक हिन्दी के रंगमञ्च पर खेले गये हैं, वे किसी भी तरफ से साहित्य को उठानेवाले नहीं रहे। उनका उद्देश जनता की गिरी रुचि के अनुकूल रहता रहा है। वे जिन नाटक-लेखकों के लिखे हुए हैं वे लेखक स्वयं ईश्वर, धर्म, समाज और साहित्य की सचाई तक नहीं पहुँचे हैं। आदर्श के पीछे अस्वाभाविक, ईश्वर के नाम पर अभूतपूर्व, धर्म के विचारों में न धृत होनेवाले, समाज को उठाने के चित्रों में कल्पित शक्ति से गिरानेवाले और साहित्य के विचार से एक सदी उसे पीछे ले जानेवाले चित्रण, भाव और भाषा का उनके नाटकों में समावेश होता आया है। इसी लिए इनके रंगमञ्चों पर मौसमी फूलों की तरह केवल दृश्यों की शोभा रहती है, साहित्य

की सुगन्ध का कहीं नाम भी नहीं रहता। जगह जगह ईश्वर के दर्शन होते हैं, मुग्धमय जनता तारीफ करती है, पैसे देती है। इतिहास तथा समाज के जिन नाटकों से जनता को जीवनी-शक्ति प्राप्त होती है, उसे अतीत और वर्तमान के सच्चे रूप देखने को मिलते हैं, एक सत्य फल की कल्पना होती है, उन नाटकों का कहीं छायापात भी नहीं हो पाता। कम्पनियाँ रुपयों के लिए नाटक लिखवाती हैं, कुछ और भी उनके उद्देश हैं जिनके शैथिल्य के भय से वे तीव्र ऐतिहासिक या सामाजिक नाटक नहीं लिखवातीं, उन्हें रुपये मिलते हैं उनका नाटक-व्यवसाय सफल होता है। जहाँ यह व्यावसायिक बुद्धि काम करती है, वहाँ साहित्य नहीं रहता। इन नाटकों पर इतना ही दोष काफी नहीं कि इनसे साहित्य की वृद्धि नहीं हुई, बल्कि यह भी है कि इनसे जनता धार्मिक अज्ञान के कूप में और गहरे अन्धकार तक चली गई है, उसके विचार इतने कलंकित हो गये हैं कि स्वप्न के दाग को मिटाकर उसे धवल जागृति के जीवन में ले आना दुष्कर हो गया है। इन नाटकों ने जो त्रुटियाँ चित्रण के सम्बन्ध में की हैं वही संगीत के सम्बन्ध में भी हैं। इनके गीतों से संगीत का जो सत्य तत्त्व मन को ऊँचा उठाते हुए लोकोत्तरानन्द में लीन करना है, वही नष्ट हो गया है। बिहारी की कविता की तरह वासना के वशीभूत होकर मनुष्यों को वे स्वर क्रमशः पतित करते रहते हैं।

हिन्दी में केवल 'प्रसाद'जी के नाटक हैं जिन्हें आधुनिक महत्त्व प्राप्त है। पर उनमें काव्य के गुण अधिक और भाषा ऐसी है कि रंगमञ्च पर उनकी उतनी प्रभा नहीं फैल सकती जितनी पाठ के समय। कुछ हो, मैं जिस भाषा को नाटक के लिए आदर्श मानता हूँ, उसका अभी तक हिन्दी में आविर्भाव नहीं हुआ। पंडित गोविन्दवल्लभजी पन्त तथा उग्रजी की भाषा काफी अच्छी है। दृश्य काव्य में इन्हें सफलता मिल सकती है। पर कथोपकथन के लिए उनकी भाषा भी वैसी तन्वंगी नहीं जो सहज सञ्चरित हो। पुनः नाटक के लिए जो प्रौढ़ता थोड़े शब्दों में व्यञ्जित की जाती है, मनोभाव के वर्णन के लिए निशाने पर तीर सी चलती है अथवा चित्र को स्पष्ट करनेवाली ज्योति की तरह, किरणों की सहस्रों रेखा-तरंगों के साथ ही स्वच्छ, जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह उनमें नहीं। प्रथमोक्त में चित्र के फूलों पर रनों-सी सुकुमार भाषा कविता एक आकर्षण पैदा करती है, सुगन्ध की तरह आत्मा तक पैठकर अपने विशद अस्तित्व का परिचय नहीं देती, दूसरे में भावना सुन्दर है, पर अधिकांश वर्णन में बाल-प्रयास ही दृष्ट होता है। पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी भी कुछ हद तक सफल हुए हैं। कहीं-कहीं उनकी लपेट अच्छी लगती है। अगर कोई कलाजंग बाँधकर ही छोड़ दे तो उसे पूरा दाँव नहीं कहते। चलाना पड़ता है। चलने पर भी देखना पड़ता है, कैसा चला--जोर से गया या सचमुच पूरे घाट उतरा। किसी बात के कहने में यही सिद्धि कला की सिद्धि होती है। माखनलालजी में मुझे लपेट की कोशिश ज्यादा मिली। पुनः उनकी भी भाषा में नाटकीय दोष है। इसलिए उनका नाटक भी स्टेज पर नहीं चल सकता। गीत सभों के अच्छे हैं। आज-कल हम लोग जिस तरह के गीत लिख रहे हैं, इस तरह के 'प्रसाद'जी के नाटकों में ही प्रत्यक्ष होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' जी खड़ी बोली के मौलिक साहित्य-निर्माण के चतुरंगी प्रथम श्रेष्ठ साहित्यिक हैं। श्री सुमित्रानन्दन की 'ज्योत्सना' भी मैंने देखी है। वे जैसे प्रतिभाशाली सुकुमार कवि हैं, 'ज्योत्स्ना' उनके अनुरूप ही है। काव्य और विचार दोनों का उत्कृष्ट सामञ्जस्य इसमें है। दोष तो सभी में होते हैं, मुमकिन है, इसमें भी हों पर मुझे 'ज्योत्स्ना' की धवल रूप-राशि की ओर प्रिय दृष्टि से देखते रहना ही पसन्द है। 'ज्योत्स्ना' स्वयं एकान्त दर्शन की चीज है। रंगमञ्च पर उसका उतरना रूपक-मात्र है। इसलिए वह हिन्दी-भाषियों के साथ तो रहेगी, पर रंगमञ्च पर दर्शन नहीं दे सकती। क्योंकि मनुष्याकार झींगुर महाशय का रंगमञ्च पर आकर संस्कृत हिन्दी में अलापना मामूली मजाक नहीं। इन नाटकों से इतना हुआ कि एक-एक तरफ की पुष्टि हो गई। आगे के स्वाभाविक नाटक लिखनेवालों को इनकी रूह से रंगमञ्च के लायक नाटक लिखने का सुभीता हो गया।

पुराण, इतिहास और समाज तीन मुख्य आधार नाटकों के लिए हैं। पौराणिक नाटकों की भाषा प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। प्राचीन युग का तभी पूरा रूप उतरता है। भाषा इतनी क्लिष्ट न हो कि जनता समझ न सके, पर ऐसी सीधी और शिथिल भी न हो कि प्राचीनता का गम्भीर वातावरण नष्ट हो जाय। मेरा लिखा हुआ स्वच्छन्द छन्द ऐसे ही नाटकों के लिए उपयोगी है। इसी विचार से मैंने लिखा भी था। अवश्य काव्य लिखने के विचार से पहले मैंने उसे मिल्टनकी तरह क्लिष्ट भाषा-पूर्ण कर दिया था, पर

मेरा असली मतलब उसे पौराणिक नाटकों में लाना ही था। 'पंचवटी-प्रसंग' की अवतारणा का यही कारण है। इसका उदाहरण पेश करने के लिए मैंने तो अपने लिखे एक सामाजिक नाटक के एक पार्ट में इसका समावेश कर दिया था। और वह पार्ट कलकत्ता स्टेज पर मैंने खुद खेला था। मैंने गिरीशचन्द्र, डी० एल० राय आदि के बीसियों बंगला नाटक पब्लिक-स्टेज पर खेले हैं। अतः रंगमंच तथा नाटक के ज्ञान पर सविशेष लिखना व्यर्थ समझता हूँ। अनेकानेक कारणों से हिन्दी में मुझे दूसरी ओर से होकर चलना पड़ा था, नाटक-साहित्य को लेकर नहीं उतर सका। इधर कुछ दिनों से निश्चय कर रहा हूँ। नाटकीय सफलता मुझे कहाँ तक होती है, मेरे उतरने के बाद लोग स्वयं आलोचना करेंगे।

ऐतिहासिक नाटकों की भाषा जोरदार, थोड़े में अधिक भाव व्यंजित करनेवाली होनी चाहिए और सामाजिक नाटकों की प्रचलित, बामुहाविरा। चरित्रों का ऊहापोह सभी में रहता है। उनके विकास की ओर काफी ध्यान रखना चाहिए। वे दोनों प्रकार के होते हैं। ऊपर से नीचे गिरनेवाले, नीचे या बराबर जमीन से ऊपर चढ़नेवाले। मिश्र चरित्र भी होते हैं जो कभी भला और कभी बुरा करते हैं। यों चरित्रों की गणना नहीं हो सकती, पर नाटक में वे जिस-जिस रूप में आयें, उनका वैसे ही वैसे विकास होना चाहिए। भाषा सबकी एक-सी नहीं होती। हिन्दी में भाषा-चयन के लिए अनेक प्रकार की अड़चनें हैं, फिर भी उन्हें पार करना होगा। आदर्श एक रहता है, पर वह स्वाभाविक हो। भिन्न चरित्रों के भिन्न आदर्शों के मिश्रण से तैयार एक पूर्णादर्श ही—वह व्यक्त किया गया हो या न किया गया हो—उस नाटक का परिणाम है। कभी-कभी इंगितों-द्वारा भाव स्पष्ट किये जाते हैं। गीत के औचित्य पर ध्यान रहना चाहिए। यह नहीं कि राजा सिंहासन पर बैठा हुआ गा रहा है। रंगमंच का पूरा ज्ञान हुए बिना दृश्यों की स्थापना ठीक-ठीक नहीं हो सकती। गीत-वाद्य आदि की भी कुछ समझ लेखक को रहनी चाहिए। नाटककार की साहित्य के सभी अंगों में थोड़ी बहुत गति होनी चाहिए और समाज के लिए किस प्रकार की प्रकृति आवश्यक है, इसका सच्चा अनुभव।

१९३४

❀ ❀ ❀

सुई दो रानी, डोरा दो रानी

श्रीमती महादेवी वर्मा

मार्ग में निरन्तर 'सुई दो रानी', 'डोरा दो रानी' इत्यादि सुनते सुनते बदरीनाथ के निकट पहुँचने तक मुझे यह विश्वास हो चला था कि उस सुदूर पर्वत-प्रान्त में न तो रानी होने से अधिक कोई सहज काम है और न सुई से अधिक कोई महत्त्वपूर्ण देने योग्य वस्तु।

मलिन भूरे बालवाले भोले भोले बालक लाल मूँगों की मालाओं से अपने को सजाये हुए, चकित दृष्टिवाली युवतियाँ तथा वात्सल्य से भरी हुई वृद्धायें और जहाँ-तहाँ जाते हुए निश्चिन्त निरीह से पुरुष, सबको एक ही धुन थी—यहाँ तक कि वे स्थान भी जहाँ शीत की अधिकता के कारण स्त्रियाँ और पुरुष कम्बल के दोनों छोरों को कन्धे पर चाँदी या किसी और धातु के काँटे से अटका कर केवल उसी को अपना परिधान बनाये थे, इस राग से मुखरित हो रहे थे। कई बार तो छोटे छोटे बालकों ने इस प्रकार घेर लिया कि अपना सारा सुई-डोरा फेंक कर हमें भागना पड़ा।

कई पहाड़ी सम्भ्रान्त व्यक्तियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस विचित्र भिक्षावृत्ति का कारण सुई का अभाव नहीं है। अब तो सब आवश्यक वस्तुएँ टट्टुओं और भेड़ों के द्वारा बदरीनाथ तक पहुँचाने का समुचित प्रबन्ध हो गया है। परन्तु यह प्रथा उस समय से सम्बन्ध रखती है जब यात्रियों के अतिरिक्त ऐसी वस्तुएँ पहुँचाने का और कोई साधन न था।

उस समय विचार आया कि हमारे परम्परागत संस्कारों का मिटना कितना कठिन है––माँगना छोड़ना तो दूर की बात, उनके हृदय में कुछ और माँगने की इच्छा ही नहीं उत्पन्न होती। प्रत्येक व्यक्ति केवल हजार-पाँच सौ सुइयों के संग्रह का स्वप्न देखता रहता है।

किसी वस्तु को प्राप्त कर लेने की इच्छा में जो मधुरता है वह उस इच्छा की पूर्त्ति में नहीं, इसका अनुभव मुझे बदरीनाथ के धूप में पारे के समान झिलमिलाते हुए हिममय शिखरों के निकट पहुँच कर हुआ।

हनुमान-चट्टी से पाँच-छः मील की जो दुर्गम और विकट चढ़ाई आरम्भ हुई थी उसका अन्त एक ओर नर और दूसरी ओर नारायण नाम के पर्वतों तथा उनकी असंख्य श्रेणियों से घिरी हुई समतल भूमि में हुआ। श्वेत कमल की पँखुरियों के समान लगनेवाले पर्वतों के बीच में, निरन्तर कलकलनादिनी अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई वह पुरी हिमालय के हृदय में छिपी हुई इच्छा के समान जान पड़ी। वृक्ष, फूल और पत्तों का कहीं चिह्न भी नहीं था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी निस्पन्द समाधि में मग्न तपस्विनी जैसी आडम्बरहीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी और उतने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे मानो किसी शरद पूर्णिमा की रात्रि में पहरा देते देते चाँदनी-समेत जम कर जड़ हो गये हों।

बदरीनाथ से एक मील बाहर वहाँ के वयोवृद्ध रईस नारायणदत्त जी ने फूलों से सजा हुआ एक सुन्दर बँगला बनवा रक्खा है, जिसमें कभी कभी कोई सम्भ्रान्त व्यक्ति ठहर जाता है, परन्तु प्रायः उसकी दीवारों को पथिकों का दर्शन दुर्लभ रहता है। पक्के तीर्थयात्री तो पंडे के संकीर्ण घर में भेड़-बकरियों की तरह भरे रहने में ही पुण्य की प्राप्ति समझते हैं।

नारायणदत्त जी ऐसे विदेह गृहस्थ हैं जो अपनी साधना का फल औरों को समर्पण कर देने में ही सिद्धि समझते हैं––बदरीनाथ ऐसे स्थान में उन्होंने बाग लगाया है, फलों के पेड़ लगाये हैं, आलू की खेती आरम्भ की है और न जाने कितने उपयोगी कार्य किये हैं––इतनी वृद्धावस्था में भी दिन दिन भर धूप में उन्हें काम करते और कराते देखकर हमें बड़ा विस्मय हुआ।

फूलों के निकट रहने की इच्छा से, एकान्त के आकर्षण से और अपने स्वभाव के कारण मैंने वहीं ठहरने का निश्चय किया, परन्तु हमारे सहयात्रियों में जो एक-दो सच्चे तीर्थयात्री थे वे उसी समय अपने पंडे का आतिथ्य स्वीकार करने चले गए। पंडा जी हमें भी बुलाने आये और उनकी नम्रता, उनका शील देखकर मेरा पंडों के प्रति उपेक्षाभाव तो दूर हो गया, परन्तु वह स्थान इतना रमणीक था कि उसे छोड़ने की कल्पना भी अच्छी नहीं लगी।

वहीं रुपये सेर दूध, रुपये सेर आटा और एक आने की एक छोटी लकड़ी के हिसाब से लकड़ियाँ मँगाकर भोजन की व्यवस्था की गई। कदाचित् इस महँगेपन के कारण ही बदरीनाथ में यात्रियों के स्वयं भोजन न बनाकर पंडे के यहाँ या बाजार में भोजन का प्रबन्ध करने की प्रथा है। इस प्रथा का अनुसरण करने के कारण पुरी में ठहरनेवाले हमारे साथी इतने अस्वस्थ हो गये कि दूसरे ही दिन उन्हें उसे तोड़ देना पड़ा।

उस दिन तीसरे पहर तक उन रुपहले शिखरों को मन भर कर देखने के उपरान्त अलकनन्दा का छोटा-सा पुल पार करके हम सब पुरी देखने निकले, परन्तु देखकर केवल निराशा हुई। संकीर्ण गलियाँ और घर दुर्गन्धपूर्ण और गन्दे थे। देखकर सोचा कि जब हम अपने इतने बड़े तीर्थस्थान को भी स्वच्छ और सुन्दर नहीं रख सकते तब किसी और स्थान को स्वच्छ रखने की आशा तो दुराशामात्र है। उत्तुंग स्वर्ग के चरणों से ही नरक की अतल गहराई बँधी है, इसका प्रमाण ऐसे ही स्थानों में मिल सकता है जहाँ पाप-पुण्य, पवित्रता-मलिनता और करुणा-क्रूरता के एक दूसरे में जीनेवाले द्वंद्व प्रत्यक्ष आ जाते हैं।

असंख्य गण्यमान्य और नगण्य, धनी और दरिद्र, शक्तिसम्पन्न और दुर्बल, सपरिजन और एकाकी यात्री यहाँ प्रतिवर्ष जाते-आते हैं––धनिकों के सारे अभाव तो उनका धन दूर कर देता है, परन्तु दरिद्रों के न रहने का अच्छा प्रबन्ध है, न भोजन का। फलतः अधिकांश यात्री रोगी होकर लौटते हैं और कुछ मार्ग में ही परमधाम का मार्ग ले लेते हैं।

उस दिन हम लोग दो मील दूर उस मन्दिर को देखने गये जो द्रौपदी के गलने के स्थान पर उसकी स्मृति में बनाया गया है। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर दो पर्वतों के बीच से निकलती हुई वसुधारा की पतली धार दिखाई

दी, जो दूर से बादलों से छनकर आती हुई किरणों की तरह जान पड़ती थी। उसी के पास व्यास-गुफा नाम की गुफा और तिब्बत जाने का मार्ग है और वहीं तिब्बती लोगों के एक ग्राम का भग्नावशेष है, जिसमें अब भी कुछ लोग आते-जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

बदरीनाथ-पुरी में देखने योग्य वस्तुओं में मन्दिर और अलकनन्दा के बीच में एक बहुत उष्ण जल का और एक ठंडे जल का स्रोत है। वहीं एक कुण्ड बना दिया गया है, जिसमें दोनों स्रोतों का जल मिलाकर यात्रियों को स्नान कराया जाता है—सम्भव है यही तप्तकुण्ड इस स्थान की प्रसिद्धि का कारण हो।

मन्दिर अपनी प्रसिद्धि के अनुरूप नहीं है और भीतर द्वारों पर कठघरे से लगाकर मानो भगवान् को भी बन्धन में डाल दिया है। द्वारपाल उन्हीं को सरलता से प्रवेश करने देते हैं जो वेशभूषा से सम्भ्रान्त व्यक्ति जान पड़ते हैं और मलिन वेशवाले दरिद्र घंटों सतृष्ण दृष्टि से उन जाने-आनेवालों को देखते रहते हैं। भीतर जाकर लाल पगड़ीवाले सिपाहियों को अन्तः द्वार की रक्षा करते देखकर हमारे विस्मय की सीमा नहीं रही—वे भी वस्त्रों को आदर की दृष्टि से देखते थे और दीन स्त्री-पुरुषों को हाथ पकड़ पकड़ कर रोक देते थे। उस द्वार को भी पार कर नर-नारायण की मूक प्रतिमा देखी जिस पर न हर्ष था, न विषाद, न कभी कुछ होने की आशा ही थी। केवल उनके पुजारी की आँखें हर्ष से नाच रही थीं, वे दोनों हाथों से चढ़ावे के थाल से चाँदी की राशि बटोर रहे थे। भगवान् के लिए नहीं, परन्तु उनके पुजारी की प्रसन्नता के लिए मैंने भी रजत-खण्ड चढ़ा कर विषण्ण मुख से बिदा ली।

दूसरे दिन हमने निकटवर्ती चाँदी के पहाड़ पर चढ़ना आरम्भ किया, जिसमें बड़ा आनन्द आया। कहीं कहीं बर्फ जम कर ऐसी हो गई थी कि संगमर्मर का भ्रम हो जाता था। न वह गलता था और न कुछ विशेष ठंडा लगता था; उससे ठंडा तो अलकनन्दा का जल था, जिसमें हाथ डालते ही उँगलियाँ ऐंठ जाती थीं। हवा में भी कुछ विशेष सर्दी नहीं मालूम हुई; मुझे तो गर्म कपड़े भी नहीं पहनने पड़े। जहाँ बर्फ पिघल रही थी, वहाँ से खोद कर कुछ बर्फ खाई और कुछ के गोले बना बनाकर लाये।

तीसरे दिन प्रस्थान के समय फिर मन्दिर में जाकर फूलों की माला न मिलने के कारण जंगली तुलसी के पत्तों की माला चढ़ाकर बिदा हुए। पंडा जी सुफल बोलने के लिए उत्सुक थे, परन्तु मुझसे यह सुनकर कि मेरी यात्रा की सफलता मेरे मन पर निर्भर है, मौन हो रहे। उन्होंने मुझे प्रसाद दिया ओर मैंने उनके आतिथ्य के बदले में कुछ उन्हें अर्पण किया। केवल उनसे स्वर्ग के लिए प्रवेशपत्र लेना मुझे स्वीकार नहीं था। बँगले में लौटकर कैमरे का कुछ दुरुपयोग-सदुपयोग किया। फिर नारायणदत्त जी से मिलकर उनके आतिथ्य के बदले में कुछ भेंट देनी चाही। परन्तु उन्हें तो भगवान् के मंदिर में रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, जो लक्ष्मी की चरण-सेवा करना जानते। वे हमारी श्रद्धाञ्जलि से ही संतुष्ट हो गये।

१९३४

❀ ❀ ❀

हिन्दू चित्र-कला

श्री नानालाल चमनलाल मेहता आई० सी० एस०

हिन्दू चित्र-कला का पूरा विकास तो १८वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। इस चित्रकला का नाम डाक्टर आनंदकुमार स्वामी ने पहले-पहल राजपूत-कला रक्खा था। इसी नाम से आज भी राजपूताने के, बुंदेलखंड के, पंजाब के, एवं कश्मीर के चित्र परिचित हैं। यह नाम एक तरह से उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन सब प्रांतीय कलाओं में अनेक विभिन्नतायें पाई जाती हैं, और फिर केवल राजपूत राजाओं के आश्रय के कारण इस कला का नाम राजपूत-कला रखना भी उचित नहीं है। यह तो सर्वमान्य बात है कि यह कला प्राचीन हिन्दू-कला की परम्परा के अनुसार रही। इस कारण मेरा मत तो यह है कि इस कला को हिन्दू-कला के नाम से ही संबोधित

करना चाहिए। हिंदू-प्रणाली के इतिहास में मुग़ल-कला एक पृथक् प्रकरण के रूप में ही रही और इसको मुगल-कला के नाम से संबोधित करना यथार्थ है। 'हिंदू' शब्द के मुकाबले में 'मुसलिम' शब्द का व्यवहार बिलकुल ही असंगत है, क्योंकि मुसलिम-संस्कृति कोई स्वतंत्र अथवा पूर्णतया विदेशी संस्कृति नहीं थी, वरन् हिन्दू-संस्कृति का एक दूसरा स्वरूप वा रूपांतर-मात्र थी। जैसे कुशान-शिल्प भारतीय शिल्प का अविच्छिन्न अंग है, वैसे ही मुग़लकालीन आलेखन भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक अपरिहार्य प्रकरण है। भारतीय सभ्यता की पाचन-शक्ति आरंभ से ही कुछ अनोखी रही। इसी कारण नई सभ्यताओं का विशिष्ट प्रभाव चिरस्थायी नहीं रहा। देशकाल के अनुसार जो अंश ग्राह्य थे, वे भारतीय सभ्यता में घुल-मिल गये। जैसे मौर्य-शिल्प से, गांधार-कला के असर के होते हुए भी, कुशान-शिल्प का क्रमानुक्रम संबंध है, वैसे ही ईरानी उस्तादों के मौजूद रहते भी मुग़ल-काल में भी भारतीय चित्रकला की शृंखला नहीं टूटी। अकबर के ही काल में, २५ वर्ष के ही भीतर, मुगल-काल की शाही-कला की विजातीयता मिटकर वह भारतीय बन गई। मुग़ल-काल के मुसव्वरों में तीन चौथाई कलाकार हिन्दू-जाति के थे। मुगल-कला का विशेष स्थान उसकी विशेषताओं पर, उसके रंग-विधान पर, उसके ऐतिहासिक महत्त्व पर, और उसके संकुचित विषय-क्षेत्र पर अवलम्बित है। इन्हीं कारणों से मुगल-चित्र हिन्दू-चित्र से कुछ अलग पड़ता है, और थोड़े ही अनुभव के बाद एक को दूसरे से पहचानने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती। मुग़ल चित्रकारों ने जब रागमालाओं के चित्र बनाये तब भी उनमें वह कोमलता और मार्दव नहीं आया जो ठेठ हिन्दू-चित्रों में पाया जाता है। इसका कारण यह नहीं था कि चित्रकार के मानस में कुछ विभिन्नता थी। बात केवल यह थी कि जमाने का तर्ज ही कुछ दूसरा था। जैसे एक ही गायक ध्रुपद और ख्याल दोनों गाता है, परन्तु रुचि के अनुसार किसी एक प्रणाली में पारंगत होता है, वैसे ही मुग़ल चित्रकारों ने प्रतिबिंब-चित्र बनाने में अद्भुत नैपुण्य प्राप्त किया, अपने संकुचित क्षेत्र में उन्होंने अद्वितीय काम दिखाया। फिर भी ये सब चित्रकार आखिर भारतीय सभ्यता के रंग में रँगे हुए थे। ईरान के सुंदर वर्ण-वैचित्र्य से मुग्ध हुए बादशाहों को खुश करने के लिए बहुत ही मनोरम चित्र मुग़ल-काल में बने। परंतु आसन, मुद्रा, भाव इन सभी विषयों में पुराने शिल्प-शास्त्रों के असर का प्राधान्य रहा। चित्र-सूत्रकार ने शबीह के लिए नौ प्रकार के 'स्थानों' का वर्णन किया है—

(१) ऋज्वागत २) अनृजु (३) साचीकृतशरीर (४) सर्द्धविलोचन (५) पार्श्वागत (६) परावृत (७) पृष्ठागत (८) परिवृत (९) समागत।

'चित्रसूत्र' की भाँति 'शिल्परत्न' में भी श्री कुमार ने नौ ही 'स्थानों' का वर्णन किया है। भारतीय चित्रों में प्रायः 'अर्द्धविलोचन' अथवा 'एकचश्म' तस्वीर ही मिलती है; और इसी आसन में शरीर का तीन-चौथाई हिस्सा चित्रकार दिखा सकता है। प्राचीन परिपाटी का यह एक नियम था कि व्यक्तियों के शरीर का अधिक से अधिक हिस्सा यथासंभव दिखाना चाहिए। इसी कारण संमुख-चित्र बहुत कम और प्रायः नीरस-से मिलते हैं। संमुख-चित्रों में केवल आधा ही शरीर प्रेक्षक देख सकता है। 'डेढ़ चश्म'• तस्वीर जिसे अँगरेजी में 'Three quarters profile' कहते हैं, का भी काफी प्रचार रहा। परंतु अकबर और जहाँगीर के समय के बाद एकचश्म तस्वीरों का ही ज्यादा रवाज देखने में आता है। इवानशुकिन ने बहुत अच्छी तरह से सिद्ध किया है कि मुगल एवं हिन्दू-चित्रकला पुराने शिल्प-शास्त्रों के नियमों से ओत-प्रोत है; अर्थात् मुग़ल और हिन्दू-कला की विभिन्नतायें युगधर्म की विशेष परिस्थिति की ही द्योतक हैं। आदर्शों अथवा उद्देश्यों का भेद नहीं था। केवल मुगल बादशाहों का रुझान सांसारिक विलास-वस्तुओं और आमोद-प्रमोद के साधनों की तरफ अधिक था। पर प्रांतीय हिन्दू राजाओं का दृष्टि-कोण दूसरा था। समकालीन साहित्य से उनके जीवन का घनिष्ठ संबंध था। इस कारण हिंदू-कला के विषय प्राचीन सभ्यता के रंग में रँगे हुए हैं। पुराने भित्ति-चित्रों का प्रबल असर इन चित्रों में दिखाई पड़ता है। अनोखा रंग-विधान इनकी विशेषता नहीं। इनका प्रधान गुण तो इनकी बहुत ही अनोखी भाववाही रेखाओं में है। चित्र का विषय कुछ भी हो, फिर भी इन चित्रों के पात्र चित्रकारों के बचपन से परिचित थे। इसी कारण इन चित्रों में एक तरह की अजीब कोमलता और सुकुमारता पाई जाती है। जैसे ग्राम्य-गीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए भी भाव की शुद्ध सरलता मिलती है, वैसे ही साधारण कोटि के भी हिंदू-चित्रों में एक किस्म की सचाई और सात्विकता नजर

आती है। इन चित्रों की खास खूबी इनके अव्यक्त अर्थ में, इनकी गहरी भाव-व्यंजना में और इनके व्यंग्य में है। जिस प्रकार ध्रुपद की रचना एक ही ठाठ पर हुआ करती है, उसी तरह एक ही भाव को लेकर हिंदू-चित्रों का आलेखन किया जाता है। जब कृष्ण की बाँसुरी बजती है तब जल-थल सभी मुग्ध होकर उसमें लीन हो जाते हैं। तमाम सृष्टि का रंगमंच एक ही भाव से आप्लावित रहता है। इन चित्रों का प्रधान रस श्रृंगार है। श्रृंगार ही तो वाणी और सौंदर्य का सार है—

सवैया

'देव' सबै सुखदायक संपति संपति दंपति दंपति जोरी।
दंपति सोई जु प्रेम प्रतीति प्रतीति की रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति महागुन गीत विचार विचार कि बानी सुधारस बोरी।
बानीकोसार बखान्योसिंगार सिंगारकोसारकिसोरकिशोरी॥

और श्रृंगार में भी 'किसोर किशोरी' की प्रेम-लीलाओं का प्राधान्य है।

राधाकृष्ण केवल देव-युगल नहीं, बरन् जब्र-समाज की गहरी भावनाओं के, प्रेरणाओं के, प्रतिबिंब-रूप आदर्श व्यक्ति हैं। आदर्श प्रेम की चरम परिणति इसी पुराण-कल्पित युगलमूर्ति में कवियों ने एवं चित्रकारों ने पाई है—

सवैया

स्याम सरूप घटा ज्यों अनूपम नीलपटा तन राधे के झूमै।
राधे के अंग के रंग रँग्यो पट बीजुरी ज्यौं घन सो तन भूमै॥
है प्रति मूरति दोऊ दुहू की बिधो प्रतिबिंब वही घट दूमै।
एकहि देह दुदेव दुदेहरे देह दुधा यक देव दुहू मै॥
(देवकृत प्रेमचंद्रिका)

हिंदी-साहित्य का पूरा जोड़ इस समय की हिंदू-कला में मिलता है। बरन् यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति न होगी कि इस समय के चित्र चित्रित साहित्य के अजीब नमूने हैं। ये भी साहित्य के ही अंग हैं। केवल साधन निराले हैं। मुगल मुसव्वरों जैसा शबीहों से अनुराग इन हिन्दू चितेरों में नहीं पाया जाता। हिंदू कलम की शबीह सादृश्य चित्र नहीं है। वे तो प्रजा के आदर्श व्यक्तियों के आलेखन के एक किस्म के खाके है। उनमें परिचित लक्षणों का सूचन है, व्यक्तिविशेषों का चित्रण नहीं है। पंजाब, राजस्थान एवं अनेक प्रांतीय केन्द्रों में बनी हुई इस काल की तसवीरें, बहैसियत शबीह, मुगल चित्रों की कोटि की नहीं हैं। इस क्षेत्र में तो मुगल चित्रकार हिंदुस्तान की एवं एशिया की तवारीख में अद्वितीय हैं।

आकार और रचना के दृष्टिकोण से मुगल और हिंदू-कला में कोई भेद नहीं है, बल्कि इवानशुकिन ने बहुत अच्छी तरह से उदाहरण-द्वारा दिखाया है कि मध्यकालीन कल्पसूत्रों में प्राप्त श्री महावीर भगवान के केशलुंचन की तसवीर पंजाब की कृष्णलीला की तसवीरों के रेखा-विधान से मिलती है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि मुगल एवं तत्पश्चात् हिंदू काल में प्राचीन परंपरा से विभिन्न कोई कारीगरी उत्पन्न नहीं हुई।

१८वीं और १९वीं शताब्दी के मध्य तक के हिंदू चित्रकारों ने आलेखन के किसी भी विषय को छोड़ा नहीं है। राधाकृष्ण को उपलक्ष बनाकर जीवन की तमाम लीलाओं का इन चित्रकारों ने आलेखन किया है। सम-कालीन कवियों की तरह इन्होंने भी सभी विषयों पर काव्य-चित्र लिखे। नहाने का, पकाने का, खाने का, सोने का, पहनने का, श्रृंगार करने का, ताम्बूल वितरण का, आखेट का, उजि-याली रात्रि में आँख-मिचौनी का, ग्रहण-स्नान का, गोधूलि का, शाम के वक्त चौपाल पर हुक्का-पानी का—सभी विषयों का इन चित्रकारों ने आलेखन किया है। डाक्टर आनन्द-कुमार स्वामी ने अपने 'राजपूत पेंटिंग' में एक चित्र दिया है, जिसमें छूटे केशवाली विरहिणी नायिका मुसव्वर से पूछती है कि 'तुम दिन भर आलेखन किया करते हो, फिर भी प्रियसमागम की अभी तक कोई संभावना नहीं।' एक कोने में चित्रकार अपने रंग-पात्रों सहित दिखाया गया है। चित्रकार कहता है कि 'मैं अभी दीवार पर प्रेम-युगल का ऐसा चित्र बनाये देता हूँ जिसमें विरह-व्यथा के लिए फिर स्थान ही न होगा।' पौराणिक प्रसंगों और कथा-कहानियों के चित्र में तो ये चित्रकार अतीव निपुण थे। मुग़ल-चित्रकार ने शाही वैभव का—राजकीय व्यक्तियों का—अनुपम आलेखन किया। इन हिंदू चित्रकारों ने जन-साधारण के जीवन को काव्य-मय सृष्टि में प्रस्फुटित किया। प्रजा के जीवन के उल्लास की गहरी छाप इन चित्रों पर हमेशा दृष्टिगोचर होती है, और यही इस शैली का गौरव और प्रधान गुण है।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम ४०-५० वर्षों में नवीन योरपीय सभ्यता की प्रबल तरंगों के सामने भारतीय संस्कृति कुछ फीकी-सी हो गई। फिर भी जैसे संघर्ष से अग्नि प्रदीप्त होती है, उसी भाँति पाश्चात्य सजीवता के अनुभव से देश में जीवन के सभी अंगों में एक नवीन

जागृति आ गई। ५० वर्ष के मंथन के अनन्तर नये रुधिर का संचार हो चला। मृतप्राय कलेवर में श्वासोच्छ्वास होने लगा। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय जीवन में नये ही उल्लास की आभा दिखाई पड़ी। भिक्षा-काल––संस्कृत-जीवन का दासत्वकाल पूरा होने को था। १६ वीं शताब्दी के तिब्बती तारानाथ ने पाश्चात्य हिंद की कारीगरी को अमानुषी कहकर वर्णन किया था। अब की बार अरुणोदय पूर्व में––गौड़ में—होने को था। बंगाल में ही विजातीय संस्कृति भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा चिरपरिचित थी। शायद उसी कारण आत्मीयता का पुनः स्मरण भारत में सबसे पहले वहीं हुआ। साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नई स्फूर्ति का आविष्कार हुआ। उसमें देशाभिमान, गौरव, आत्मसम्मान, अनुभवगत औदार्य, दृष्टि की विशालता, गुणग्राहकता और सेवा-भाव का एक अनोखा संमिश्रण था। प्रारंभ में बहुत ही छोटा स्रोत था। परंतु भारत के भाग्यचक्र की दशा अब ऊपर को थी। संमोहनकाल समाप्त होने को था। भावी की उज्ज्वल घड़ियों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी। थोड़े ही काल में जो ज्योति टिमटिमा रही थी––प्रतिकूल वायु के थपेड़े से भयभीत हो अस्थिर-सी थी––वह एक तेजोमय राशि में प्रदीप्त हो उठी। भारत के क्षीण, दुर्बल कलेवर में नया जीवन वसंत की अनुपम सृष्टि के समान पल्लवित हो उठा और इस सनातन पुण्यभूमि में नवीन युग का प्रारंभ हुआ। भारतीय आत्मा की प्रकाश की किरणें पुनः फैल रही हैं। अब भारत भिखारी नहीं, किंतु संसार की सभ्यता, मौलिक सेवा और अपनी आत्मीयता का––अंतर्प्रेरणा का––अनन्य प्रतिनिधि है। विश्व-साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी भारत का स्थान अब सुरक्षित है। प्रजा के उत्थान-काल में सभी वस्तुओं की गति ऊपर की ओर होती है। भारत का अतीत उज्ज्वल था, भविष्य के और भी यशस्वी होने में अब शंका का स्थान नहीं है।

१८वीं और १६वीं शताब्दी में हिन्दू-कला का अद्भुत उत्कर्ष हुआ। विशेषतः पंजाब की पहाड़ी रियासतों में अनेक प्रान्तीय चित्र-शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से काँगड़ा कलम के चित्रों से शिक्षित समाज सुपरिचित है। अब विदित होता है कि काँगड़ा शैली के अतिरिक्त कई और प्रकार के चित्र बनाये गये। इन प्रान्तीय शैलियों के विषय में अभी तक कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं है––किन्तु चित्रों के अधिशीलन से प्रत्येक शैली के लाक्षणिक गुणों का दिग्दर्शन सहज हो जाता है।

"स्नान" का चित्र काँगड़ा-कलम का होते हुए भी राजस्थानी शैली से प्रभावित मालूम होता है। इस आलेखन में अद्भुत सजोवता एवम् सरलता दृष्टिगोचर होती है। "ग्रीष्म" के चित्र में पहाड़ी-कलम की सहज मृदुता और भावुकता दिखाई पड़ती है। 'उमा महेश्वर" भी इसी शैली का अति ही सुन्दर उदाहरण है। चित्र अपूर्ण होते हुए भी, बरन् रंगविहीन होने से ही अधिक हृदयग्राही बन गया है। कैलास के उत्तुंग शिखरों में उमा और शिव सकुटुम्ब व्याघ्र-चर्म्म में आवेष्ठित विराजमान हैं। चित्रकार ने कैसी रम्य भूमिका बाँधी है। हिन्दू-शैली के "लेखन" की अनुपम ऋजुता यहाँ पूर्णतया दिखाई पड़ती है। "पुष्पचयन" एक छोटा-सा काव्य है। इसमें टीका के लिए स्थान ही नहीं है। यह छोटा-सा काव्य स्वयं सम्पूर्ण है।

"देवासुर-संग्राम" में दूसरे ही मनोरथ का प्रदर्शन है। एक-एक पात्र आवेश-मय जान पड़ता है। महाभारत के मुगल चित्रकारों को जो सफलता हस्तगत नहीं हुई वह यहाँ इस देवीपुराण के चित्रित पृष्ठ में सिद्ध हुई नज़र आती है। देवताओं के वाहन के आलेखन में कैसी स्फूर्त्ति नज़र आती है।

मार्दव और काव्यमय कोमलता के लिए यहाँ स्थान कैसे हो सकता है? प्रचंड महासमर के उपयुक्त आवेश का यहाँ सजीव आलेखन प्राप्त होता है।

"गोवर्धन-धारण" एक निराली ही शैली का उदाहरण है। यहाँ प्रतिबिम्बवत् आलेखन नहीं है किन्तु रंग की खास-कर नीले रंग की अद्भुत सजावट है। गोवर्धन गिरि भी आसमानी रंग से ही परिवेष्टित है।

"देवी-त्रयी" की शैली भी विचित्र है। यहाँ प्राचीन भित्ति-चित्रों की परम्परा दिखाई पड़ती है। सुन्दर सादे रंगों से परिपूरित यह चित्र काँगड़ा-कलम से कुछ निराला ही है।।

"कृष्ण-लीला" एक अन्य प्रान्तीय शैली का मनोहारी दृष्टान्त है। आलेखन शैली में कोमल एवं सुचारु

रंगों की सजावट विशेष ध्यान खींचती है। श्री कृष्ण-चन्द्र के आलेखन में मुझे कुछ चीनी-प्रथा का स्मरण होता है। चारों ओर कमल कैसे अच्छे ढंग से बनाये गये हैं। चित्र में गति नहीं हैं; किन्तु भावुकता एवम् मनोहारी भूमिका के प्रदर्शन में ही चित्रकार ने अपनी पूर्ण शक्ति व्यय कर दी है। ऐसी अनेक प्रान्तीय शैलियों के उदाहरण मैंने एकत्र किये है, जो कभी पाठकों के के सम्मुख रख दिये जायँगे।

१९३५

❀ ❀ ❀

नारी-अपहरण में हिन्दू-समाज की जिम्मेदारी

श्री पण्डित मोहनलाल नेहरू

'कमजोर मार खाने की निशानी' एक पुरानी मसल है, और आज तक यह ठीक साबित होती जा रही है। स्त्री-जाति कमजोर है। उसे शायद परमेश्वर ने ही कम-जोर बनाया है, कम से कम पुरुष से तो कमजोर बनाया ही है। आदमी जब जंगली हालत में था तब से आज तक जब कि वह अपने को सभ्य समझता है, स्त्री पर नाना प्रकार के अत्याचार करता आया है। उनमें से एक उसे अपहरण करने का भी है। कमजोर होना तो बड़ा पाप है और यह उसी पाप का प्रायश्चित्त है। मेरा मतलब यह नहीं है कि सभी पुरुष अत्याचार करते हैं, मगर बहुत कुछ तो करते ही हैं। कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो पुरुषों पर अत्याचार बिलकुल उसी तरह करती हैं, जैसे पुरुष कुछ स्त्रियों पर करते हैं। मगर यहाँ उनसे कुछ वास्ता नहीं, अधिकतर जो होता है उसी के बारे में लिखा गया है।

जब पुरुष के पास अधिकार होता है तब वह उस अधिकार-द्वारा क्या नहीं करता? भीष्म पितामह अपने से कमजोर काशिराज पर चढ़ दौड़े और उसकी लड़कियों का अपहरण किया। भगवान् कृष्ण ने खुद ही ऐसा रास्ता दिखाया। दूसरे देशों में भी वैसा ही होता रहा है और हो रहा है। इसका भी काफी सुबूत है। वे लोग कानून-कायदों-द्वारा रोक-थाम अब भी करते रहते हैं। फौज-द्वारा लड़कर स्त्री का अपहरण करना उतना ही बुरा है, जितना चुरा ले जाना। हमारे देश में आज-कल स्त्रियाँ चोरी जाती हैं, इसमें शक नहीं और उनमें अधिकतर हिन्दू-जाति की ही होती हैं, इसमें भी सन्देह नहीं। इस तरह चोरी जाने में और सीना-जोरी से ले जाये जाने में जरा-सा भी भेद नहीं है।

बहुधा लेखक इस विषय पर लिख चुके हैं और अभी हाल में ही श्री राधारमण जी शर्मा के लेख में जो सितम्बर के 'चाँद' में छपा है बहुत विस्तार से हिन्दू-स्त्रियों के चोरी जाने के कारणों का विवरण दिया गया है और इसमें सन्देह नहीं कि वह बिलकुल ठीक है। किन्तु ऐसे लेखों के पढ़नेवालों को यह भ्रम हो सकता है कि वे हिन्दू स्त्रियों के अपहरण का भार केवल मुसलमानों पर ही रखते हैं। सम्भव है कि उन गुंडों में मुसलमानों की काफी संख्या हो, किन्तु हिन्दू भी कम नहीं हैं। मुकदमों में ऐसा साबित हो चुका है। उदाहरण के लिए इलाहाबाद हाईकोर्ट के पिछले साल भर के मुकदमों को उठाकर देख लीजिए। उनमें अधिक संख्या हिन्दू स्त्री-चोरों की है और उन चोरों में स्त्रियाँ तक मौजूद हैं। बड़े-बड़े उच्च जाति के ब्राह्मण तक इस बात के लिए सजा पा चुके हैं। वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि इन गुंडों की मंडलियाँ हैं, जिनमें हिन्दू, मुसलमान, पुरुष, स्त्री, सभी सम्मिलित हैं। अगर मैं यह कहूँ कि हिन्दू-समाज स्वयं ही अपनी स्त्रियों का अपहरण कराता है तो शायद अनुचित न होगा। शर्मा जी ने स्वयं ही ऐसा एक उदाहरण अपने लेख में दिया है, जिससे मेरी राय का समर्थन होता है। मगर मैं खाली उसी पर दार-मदार नहीं करता। अगर सेवा-समिति से कोई दरियाफ्त करे तो वह सैकड़ों उदाहरण इसके सुबूत में दे सकती है। यहाँ मैं केवल दो उदाहरण दूँगा जो मुझे सेवा-समिति के सेक्रेटरी श्री भारतीय जी ने बताये हैं।

एक १७-१८ वर्ष की लड़की जो नवविवाहिता थी, किसी कारण से गर्भवती हो गई। पति ने उस गर्भ

का अपने द्वारा होना स्वीकार न कर उसे घर से निकाल दिया। बिरादरी को तो मौका मिलने की देर थी। हमारा हिन्दू-समाज किसी सुधार में यकीन नहीं करता। बस, वह नवयौवना बहिष्कार करने योग्य हो गई, चाहे जो भी उसका परिणाम हो। उसके पिता से कहा गया कि यदि वह उसे आश्रय देगा तो वह भी समाज से निकाल दिया जायगा। वह इस धमकी से इतना डरा कि प्रयागराज लाकर उसे त्याग दिया। सेवा-समितिवालों ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह कब माननेवाला था। धारों रोता था, परन्तु लड़की को तो त्यागना ही था सो त्याग गया। सेवा-समिति ने उसे आश्रय दिया, मगर न मालूम वैसी कितनी लड़कियाँ निराश्रिता रह जाती होंगी। समाज की हालत तो देखिए! जो कोई उस लड़की को आश्रय दे वह भी बहिष्कार के योग्य। और यह है हमारा हिन्दू-समाज जो रात-दिन अहिंसा की दोहाई देता रहता है। किसी कीड़े को जान से मारो तो वह हिंसा है, मगर अपने बाल-बच्चों को भूखा मारने पर मजबूर किये जाओ। यह कैसी अहिंसा है? वाह!

दूसरा उदाहरण उससे भी ज्यादा आश्चर्यजनक है! वह भी सुनिए। एक हिन्दू उच्च कोटि के परिवार में दो भाई थे। बड़े विवाहित थे और दोनों भाइयों में काफी मेल व प्रेम था। अचानक बड़े भाई का देहान्त हो गया और घर में उनकी विधवा और छोटा भाई रह गये। भावज को वह काफी आदर-भाव से रखता था, जो उसके लिए उचित भी था। मगर समाज को कहाँ चैन? लोगों में काना-फूसी होने लगी। वह भिन्न-भिन्न वर्ग के दो व्यक्तियों को एक घर में रहते उनका सम्बन्ध पवित्र समझ ही नहीं सकता था। कानाफूसी इस दर्जे तक बढ़ी कि भाई का विवाह होना असम्भव हो गया और उसे भावज के त्यागने पर मजबूर होना पड़ा। पर किस मुँह से यह सब भावज से कहता? उसे तीर्थ कराने घर से ले चला और नैनी के स्टेशन पर जो इलाहाबाद से ४ या ५ मील पर है, उसे छोड़कर गायब हो गया। वह युवती इतनी बेवकूफ न थी जितनी उसे समाज ने समझा था और वास्तव में बहुधा हिन्दू-स्त्रियाँ होती भी हैं। वह इलाहाबाद शायद आई-गई हो या कुछ अनुभव उसे प्रयाग-सेवा-समिति का था। उसने इलाहाबाद-स्टेशन पर उतरकर सेवा-समितिवालों को जो वहाँ तैनात रहते हैं, बुलाकर सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। वे बेचारे उसे उसके घर ले गये और कुछ रुपया-पैसा उसे दिलवाकर उसके रहने-सहने का उचित प्रबन्ध कर आये।

और एक ताजा उदाहरण लीजिए। जबलपुर के जिले में बेंडा नाम का एक ग्राम है। जुलाई-महीने की बात है, वहाँ कुछ गोरे सैनिकों ने धावा बोल दिया। एक आदमी जान से मारा गया और कितनी ही स्त्रियाँ दिन-दोपहर बेइज्जत की गईं। गाँववाले कुछ छिपकर, कुछ घायल होकर खुले मैदान में अपनी स्त्रियों तथा माँ-बहनों पर बलात्कार होता देखते रहे। बाद को वे सब स्त्रियाँ जाति से अलग कर दी गईं। ऐसा उन्होंने जज साहब के सामने बयान किया है। यह दोहरा अत्याचार हुआ! यही तो हमारा हिन्दू-समाज है!!

समाज की ऐसी दशा में चरित्र-सम्बन्धी शिक्षा क्या करेगी? कितनी ही सच्चरित्र, कितनी ही शिक्षित कोई युवती क्यों न हो, समाज तो फर्जी बातों पर उसका बहिष्कार करने पर कटिबद्ध है, चाहे वह गुंडों के हवाले ही हो जाय। चरित्र की रक्षा की हिम्मत तो जरूरी चीज है। मगर मैं पूछता हूँ कि वह हिम्मत ऐसे मामलों में जो श्री राधारमण जी ने स्वयं लिखे हैं या बेंडा में हुए, क्या कर सकती है।

गुंडे चाहे हिन्दू हों, चाहे, मुसलमान हों, अधिकतर हिन्दू-लड़कियों पर ही अपना हाथ साफ करते हैं। क्यों? उन्हें हिन्दू-समाज ही सहायता देता है। मुसलमान-समाज उन्हें सहायता नहीं देता, वरन् रोक-थाम करता है। इसी से एक लड़की के अपहरण में चारों तरफ से हाय-पुकार होने लगती है। जब वह समाज अपहृत लड़की को बचा लेता है तब उसको दोषी या कुलटा ठहराकर समाज से निकाल बाहर नहीं करता। वह गुंडों को दण्ड दिलाकर उसे आदरपूर्वक घर में रखता है और आगे उसका अपहरण होने से बचाता है। हिन्दू लड़की का पिता पहले तो स्वयं ही उसका चोरी जाना छिपाता है, क्योंकि उसे डर रहता है कि समाज उस लड़की का बहिष्कार करावेगा ही, और अगर वह लड़की मिल गई तो क्या लाभ। यहाँ तो घर से एक दफे जाना बहिष्कार के वास्ते काफी है। वह मिली तो उसके घरवालों की और उसकी दोनों की तबाही, न मिली तो कुछ हालतों में उसकी तबाही बच जाती है। इस खयाल से शायद समझदार लड़कियाँ खुद



कजरीवन में जंगली हाथियों का पकड़ना
(प्राचीन चित्र)

[१९५८



सह अस्तित्व
(चित्रकार–असितकुमार हालदार)

ही छिप रहती हों। कहते हैं, पंजाब में अक्सर ये भगाई हुई लड़कियाँ ब्याही जाती हैं। सच-झूठ की खबर नहीं। पंजाब में लड़कियाँ कम हैं, बंगाल में और संयुक्त-प्रांत में बहुत हैं। क्या अच्छा होता यदि लड़कियों के माता-पिता स्वयं उन लड़कियों को पंजाब में ब्याह देते! लड़की भगानेवालों का पेशा ही खत्म हो जाता।

एक मित्र ने मुझे एक ऐसा मामला बताया है, जहाँ एक मित्र की स्त्री का दूसरे मित्र ने उसकी अनुपस्थिति में अपहरण कर लिया। उन दोनों में न कोई मुसलमान है न गुंडा। मुझे एक दूसरा ऐसा मामला मालूम है, जहाँ एक ऊँचे अफसर की स्त्री को दूसरे ऊँचे अफसर ने भगा लिया और थोड़े ही दिनों के बाद निकाल बाहर भी किया। ऐसी दशा में यह देखा गया है कि हिन्दू-समाज स्त्री को ही सजा देता है और पुरुष साफ छूट जाता है और गुलछर्रे उड़ाता है।

ऐसा भी देखा गया है कि बहुत कुछ घर के झगड़ों से तंग आकर या सास-ननद के अत्याचारों को न सहकर भी लड़कियाँ भाग खड़ी हुई हैं। अपने समाज में जब तक सुधार न होगा और जब तक वह सामाजिक बहिष्कार के शब्दों को भूल न जायगा तब तक यह समस्या हल न होगी। हमें दूसरों पर इल्जाम लगाने के पहले अपने घरों को ठीक करना है।

यह न समझा जाय कि मैं राधारमण जी से चरित्र-सम्बन्धी शिक्षा देने में सहमत नहीं हूँ। मैं चरित्र-सम्बन्धी शिक्षा उसे समझता हूँ जिससे कोई व्यक्ति अपनी आत्म-रक्षा या अपने सतीत्व की रक्षा कर सके। दूसरे शब्दों में वह शिक्षा जो अपराधी या भावी अपराधी को दण्ड दे सके। उस शिक्षा की न केवल स्त्रियों को जरूरत है, वरन् हिन्दू पुरुषों को भी। वह शिक्षा न किताबी है, न स्कूलों में ही मिल सकती है। वह तो माँ-बाप के उत्साहित करते रहने में बच्चे को शुरू से ही मिल सकती है। जब अपनी आत्म-रक्षा का भार हम अपने ऊपर उठा लेंगे तब दूसरा आसानी से हमारे घरों पर आक्रमण नहीं कर सकता।

१९३५

सत्यं शिवं सुन्दरं

श्री राधामोहन गोकुलजी

भावों के व्यक्त करने का सर्वोच्च साधन कला है। कला-द्वारा ही भाव मूर्त्तिमान् किये जा सकते हैं। कला के अस्तित्व का हेतु ही व्यंजना या व्यक्तीकरण है। कला मनोगत विचारों को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर कर देती है। भावों की पीठ या आधार है इच्छा, आकांक्षा, प्रतिभाशालिनी साधारण समझ की निरन्तर मननशीलता, मन का मातृत्व और वह प्रबल अनुराग जिससे अवस्थानभंगी, क्रमशः विस्तार, बाह्य रेखा, रंग और उल्लास का आविर्भाव होता है।

यह तो मानना ही पड़ता है कि जिस तरह सर्वथा पूर्ण नीतिमत्ता नहीं हो सकती, वैसे ही सौन्दर्य भी ऐसा नहीं हो सकता जहाँ इत्यलम् कहने का कोई साहस कर सके। इससे प्रकट होता है कि सौन्दर्य या आचार सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं होता। जहाँ तक मनुष्य का व्यापार देखा जाता है, हमें यही प्रतीत होता है कि उसके विचार उसके परिकर से उत्पन्न होते हैं, उसके विचारों की उत्पत्ति में क्रिया, प्रतिक्रिया और अन्तःक्रिया का हाथ होता है, क्योंकि इन सबका प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। भाव या विचार वास्तविक जगत् के बाद पैदा हुआ है। इस जगत् की चीजों का जो प्रभाव हम पर पड़ता है उन्हीं को हम जानते हैं। निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व और सर्वथा पूर्ण भाव मानवीय मन की गति के बाहर है। हमारा ज्ञान उन्हीं सम्बन्धों तक परिमित है जो वास्तविक चीजों के पूर्णयोग अर्थात् प्रकट विश्व और उसके उस प्रभाव में है जो हम पर पड़ता है। उचित और अनुचित का विचार भी हममें अनुभव और विवेक के निर्णय से ही

होता है। वस्तुओं का सौन्दर्य भी उसी सम्बन्ध पर निर्भर होता है जो रूपों, रंगों और व्यक्त करने के ढंगों में होता है और हमसे संपृक्त होता है। सौन्दर्य का मूल हमें सुख के तथ्य में मिलता है, इन्द्रिय-ज्ञान की परितुष्टि में जान पड़ता है, उस आनन्द में प्रतीत होता है जो हमें अपने बुद्धिबल से किसी नवीन आविष्कार या अन्वेषण से मिलता है। सौन्दर्य प्राणों को उद्बोधित करता है, निद्रा और प्रमाद को हटाता है, किन्तु यह क्रिया प्रत्ययों, स्मृतियों, अनुभवों आदि से होती है।

कला कल्पना-शक्ति को उत्कर्षित और उद्बोधित करती है, अन्तरात्मा को अनुप्राणित करती है। कल्पना से ही हम अपने को दूसरे की परिस्थिति में न रखकर विचार करते हैं। यदि कल्पना के पर काट दिये जायँ तो स्वामी में सेवा-भाव न हो, अत्याचारी को दण्ड न मिले। कल्पना-हीन हृदयों को इस बात का पता नहीं लगता कि आत्मोत्सर्गकारी को उसके अत्याचार से किस ज्वाला में जलना पड़ रहा है। कल्पना-शक्तिशील पुरुष जब किसी के दुख को दूर करता है तब वह अनुभव करता है कि मैंने अपना ही दुख दूर किया है। दयालु हृदय जब किसी को सताया जाता देखता है तब उसे ऐसा दुख होता है, मानों वह स्वयं सताया जा रहा है और जब वह अत्याचारी पर आक्रमण करके निर्बल-निस्सहाय को बचा लेता है तब समझता है कि मैंने अपने निज प्राण और शरीर की रक्षा की है। प्रेम और दया आदि कल्पना-प्रसूत भावनायें हैं।

जिन कवियों और लेखकों ने मनुष्य के मन को रुग्ण और निर्बलताओं का भाण्डार चित्रित करके उसकी धार्मिक चिकित्सा का उद्योग किया है वे विषय को ठीक नहीं समझे। मानसिक चिकित्सा का यह विधान प्रशस्त नहीं जँचता। यह भी कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता कि नेकी करने का अर्थ परलोक के लिए सुख का साधन एकत्र करना है। यह तो एक स्वार्थ-पूर्ण व्यापारियों की नीति है। अन्तःकरण की विशुद्ध कल्पना का तो ऐसी बातों में नामोंनिशान तक नहीं है, हमें तो इसमें सौन्दर्य का सर्वथा अभाव ही दीखता है। व्यापार-बुद्धि-प्रेरित कवियों-कोविदों की कवितायें और शिक्षायें तो प्रत्यक्ष ही सत्यता-सौन्दर्य से हीन हमारे आन्तरिक सुखों को हानि पहुँचानेवाली हैं। इसी से तो एक स्थल पर खय्याम कहता है—

गोयन्द बहिश्तो हूरो कौसर बाशद।
जूए मयो शहदो शक्कर बाशद॥
एक जाम बिदेह ज्यादः अभ ऐ साकी।
नक़दे ज़हजार नसिया बेहतर बाशद॥

अर्थात् (धर्म्मयाजक) कहते हैं, स्वर्ग में हूरें मिलेंगी, आबेकौसर मिलेगा, मद्य की नदी, मधु और शर्करा मिलेगी। हे साकी! मुझे एक प्याला आज और दे दे, क्योंकि एक नक़द सहस्रों उधार से बढ़कर है।

सच तो यह है कि प्रतिफल के पाने का लालच आते ही दया, धर्म, नेकी, सदाचार और सब प्रकार की समाज-नीति का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, जिन्दगी का सारा मजा मिट्टी में मिल जाता है। ऐसे लोग जो फेरी करके धर्म-पुस्तकें बेचा करते हैं, बात के तथ्य को नहीं जान सकते। कविता, चित्रकारी, दया, प्रेम का भाव तो धरती, आकाश, चाँद, सूर्य, नदी, पहाड़, समुद्र आदि हमारे हृदय में उत्पन्न करते हैं। यहाँ दलाली काम नहीं देती। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के मन्त्र से मुग्ध प्राणी स्वत्व और दायित्व के उस पचड़े में नहीं पड़ते जो औरों को पापी और अपने को धर्मात्मा कहना सिखाता है। इनका मार्ग सीधा है, सुगम है, स्वतंत्र है और स्वतः दिखलाई पड़ता है। तभी तो उपदेशकों से खैयाम कहता है—

गर मय न ख़ुरी तानः मजन मस्ताँ रा।
गर दस्त देहद तोबः कुनम यजदाँ रा॥
तू फख्र बिदीं कुनी कि मन मय न ख़ुरम।
सद कार कुनी कि मय गुलामस्त आँरा॥

अर्थात् यदि तू शराब नहीं पीता तो मस्तों को ताने क्यों देता है? तुझे अभिमान है कि तू मद्य नहीं पीता। हज़ारों काम तू ऐसे करता है जिसके सामने मद्य-पान तो बहुत तुच्छ ठहरता है।

कला का प्रेमी उन्मत्त होता है। उसे न घासलेट की परवा होती है, न चाकलेट की; श्लील और अश्लील का उसे पता ही नहीं रहता। बिना प्रबल अनुराग के कोई भलाई होती ही नहीं; प्रबल अनुराग रखनेवाले धर्मात्मा हैं। विशुद्ध हृदय की सच्ची गतिमति का पता उपदेशकों को नहीं होता। कला नीति-अनीति के बन्धन से मुक्त होती है। इसका जीवन उसी की ख़ातिर है, इसे दूसरों के झगड़े से क्या मतलब?

जो कला-रसात्मा दूसरों को शिक्षा देने के लिए अपनी कला को काम में लाता है वह तो धर्मोपदेशक है, कला-रस से छका हुआ उन्मत्त नहीं। इसी प्रकार जो कला-कुशल अपनी कला-द्वारा संसार में अनीति और अनाचार फैलाने का अभिप्राय रखता है वह विट है, कुट्टन है, लम्पटों का दूत है—कला-रसोन्मत्त नहीं है। दिगम्बर और नग्न में, नैसर्गिक शरीर और असज्जित में कहीं बड़ा अन्तर होता है। पवित्रहृदय बालक नंगे और ढँके हुए में कैसे भेद कर सकता है? लज्जा का उद्गम दुर्बुद्धि और पापपरता है। नंगे को मूर्ख, गँवार, भद्दा और असभ्य कहेंगे। दिगम्बर को पवित्र हृदय समझेंगे।

नीतिमत्ता क्या है? यह भी तो क्रिया और अवस्था की अनुकूलता (या सामञ्जस्य) का ही नाम है। आचरणों की मिली हुई स्वर-लहरी या मधुर गति नीति है। समाज में रहनेवाले की आचरणरूपी वंशी में बाल न हो, इसी को तो कहते हैं मिलकर बजे और खटका न हो। गान में सुर-तान की मधुरता, चित्रकारी में रंग-रूप की सारूप्यता, नीति में आचरण की संगतिता का लक्ष्य एक ही है। बड़े-बड़े चित्रों और मूर्तियों के निर्माता मजूर नहीं होते। वे अपने आनन्द के लिए अपनी कल्पना को व्यक्त करते हैं। हाँ, वे चित्रकार अवश्य मजूर हैं जो केवल पैसे के लिए विशाल चित्र चित्रित किया करते हैं। इसी तरह अगर चित्रकार नीति सिखलाने का प्रयास करता है तो उसे खींचतान का श्रम करना पड़ेगा, उसमें स्वाभाविक प्रवाह (रवानी) न होगा, इसलिए वह चित्रकार नहीं, मजूर कहलायेगा।

उपन्यास-लेखक, कवि किसी को भी ले लें, जहाँ कल्पना के स्वतंत्र प्रवाह में कहीं किसी भी बाह्य विचार ने बाधा डाली कि वस्तु की असलियत जाती रहती है, कृत्रिमता प्रविष्ट होकर सारा सौन्दर्य नष्ट कर देती है। संसार-रूपी महाविश्वकोष हमारे सामने खुला पड़ा है, हमारी प्रतिभा इसमें से आवश्यकतानुसार सादृश्य, अनुधर्मता, अनुरूपता आप ढूँढ़ लेती है। विरोध और प्रतिकूलता को हटाती चली जाती है। विरोध में सामञ्जस्य और प्रतिकूलता में अनुकूलता उत्पन्न करती हुई अग्रसर होती रहती है।

भाषा भी चित्रागार है। प्रत्येक शब्द एक प्रस्तुत कला है। शब्दों से क्या कान को केवल आवाज़ ही सुनाई देती है? नहीं। हाँ, शब्द के सुनते ही एक चित्र हमारे हृदय-पट पर खिंच जाता है। सर्वोत्तम चित्र तो शब्दों से ही चित्रित होते हैं। कितने ही सहस्रों वर्ष पुराने शब्द-चित्र आज भी अनूठे और हृदयग्राही प्रतीत होते हैं।

अगणित सुधारकों ने समय-समय पर भरपूर चेष्टा की है कि संसार से अनुराग, वासना, इच्छा उठ जाय, पर उठा नहीं सके। अरब में, ईरान में गानवाद्य और चित्रकारी का बीज लाख उपदेश करने पर भी नहीं नष्ट हुआ। इन मानव-स्वभाव के स्वयम्भूत गुणों के नष्ट होने का अर्थ है मनुष्य-जीवन का ही अन्त हो जाना।

संसार की जरूरतों की ही खोज और चिन्ता में यदि मनुष्य पड़ा रहे तो जीवन भार हो जाय, घर कारागार बन जाय, आत्मीय जंगल के हिंसक जन्तु प्रतीत होने लगें। कला के सहारे जीवन-क्षेत्र फैलता है, दीवारें हटती हैं, छत और ऊँची हो जाती है, भावों के स्वतंत्र विकास का मैदान विस्तीर्ण हो जाता है।

दर चश्मे मुहक्किकाँ चे जेबा व चे ज़िश्त।
मंज़ल गहे आशिकाँ चे दोज़ख चे बहिश्त॥
पोशीदने बेदिलाँ चे अतलस चे प्लास।
ज़ेरे सरे आशिकाँ चे बालीनो चे खिश्त॥

अर्थात् तत्त्वदर्शियों की दृष्टि में क्या भला और क्या बुरा? प्रेमी का स्थान जैसा स्वर्ग वैसा नरक। आपे को भूले हुए मस्तों के पहरने के लिए जैसा अतलस वैसा पश्मीना। प्रेमियों के सिर के नीचे तकिया (उपधान) हो या ईंट दोनों बराबर हैं।

१९३५

❀ ❀ ❀

'मीराबाई'—नाम

डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट्०

मीराबाई के व्यक्तित्व के कारण उसका नाम हमारे लिए इतना प्रिय हो गया है कि साधारणतया हमें यह ध्यान भी नहीं आता कि उसमें कोई असाधारणता है और उसके सम्बन्ध में सोच-विचार की भी आवश्यकता है। परन्तु यदि इस नाम पर थोड़ा भी विचार किया जाय तो पता चलेगा कि यह नाम है बहुत असाधारण।

इस नाम पर विचार करने से पहले यह उल्लेख करना आवश्यक है कि राजस्थान में जहाँ की रहनेवाली मीराबाई थीं, नाम का उच्चारण मीराँबाई है। 'राँ' का यह आनुनासिक उच्चारण व्याकरण की किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आया है अथवा केवल राजस्थानी की उच्चारण-मात्र की एक विशेषता है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजस्थानी में विभक्तियों के पहले बहुवचन में विकारीरूप बहुधा आँ-कारवाले होते हैं, जैसे "धण संभालै कंचुवौ प्री मूछां रा बालि" में मूछाँ है। मुझे यह भी बतलाया गया है कि जैसे मीरा का मीराँ होता है, वैसे हीरा का हीराँ। इस 'आँ'-कार का चाहे जो कारण हो, 'मीरा' और 'मीराँ' हैं मूलतः एक ही चीज। हिन्दी में मीराबाई चलता है, फिर से मीराँबाई चलाने का प्रयत्न करना उचित नहीं। विभिन्न भाषाओं में एक ही नाम के अलग-अलग उच्चारण देखे जाते ही हैं। मीराँ से मीरा में जो परिवर्तन हुआ है, वह अपने आप हुआ है, किसी के सज्ञान प्रयत्न से नहीं।

ऊपर मैंने इस नाम की असाधारणता का उल्लेख किया है। यह बात नहीं कि हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग ही न हो। है तो, किन्तु बहुत विरल। अभी तक मुझे बाबू श्यामसुन्दरदासजी के द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रंथावली' में आई हुई निम्नलिखित तीन साखियों में 'मीराँ' शब्द का प्रयोग मिला है—

चौहट्टै चिन्तामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।
मीराँ मुझ सूं मिहर करिइब मिलौं ना काहू साथि॥

चिन्तामणि (आत्मा मायाविष्ट होकर जीव के रूप में) खुले बाजार (जगत् में) बिकने आई है। इसी से डाकू (यम) उस पर हाथ मार रहा है। हे प्रभु! मुझ पर दया कर। मैं किसी के साथ मिलना नहीं चाहता (मायोपाधिक जगत् में नहीं आना चाहता, निर्लेप रहना चाहता हूँ जिससे जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाऊँ।)

कबीर चाला जाइ था आगैं मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझ सूं यू कह्या, किन फुरमाई गाइ॥

कबीर परम्परागत मार्ग पर चला जा रहा था कि आगे खुदा मिल गया। प्रभु ने मुझसे इस प्रकार कहा—'गो (-वध) की आज्ञा किसने दी है?'

हज काबै ह्वै ह्वै गया केती बार कबीर।
मीरां मुझमें क्या खता मुखां न बोलै पीर॥

(कबीर कभी हज्ज करने तो गये नहीं थे। भीतरी भाव को ही वे असली हज्ज मानते थे। इसी लिए उनका कथन है कि) मैं न जाने कितनी बार काबे की हज्ज को हो आया हूँ। फिर भी यदि (दुनियावी) पीर मुझसे बोलता नहीं, (मुझे भक्त नहीं मानता) तो हे प्रभु! इसमें मेरा क्या दोष? दोष पीर की बहिर्मुख वृत्ति का है। साखी का उद्देश्य बहिर्मुख कर्मों की व्यर्थता सिद्ध करना है।)

इन साखियों में, जैसा उनके साथ दिये हुए अर्थ से स्पष्ट है, 'मीराँ' का अर्थ प्रभु या ईश्वर जान पड़ता है। इस शब्द के माने मीर भी हो सकते हैं (मीर के सम्बन्ध में आगे चलकर कुछ कहने की आवश्यकता पड़ेगी)। परन्तु वह इनमें खपता नहीं है। दूसरी साखी 'मीराँ' का अर्थ 'हे मीरो!' मानने में बाधक नहीं, परन्तु उसका अर्थ ईश्वर मानने में भी वह अड़चन नहीं डालती। तीसरी में उसका अर्थ ईश्वर लगाना ही अधिक संगत है क्योंकि अन्यथा 'पीर' के विरुद्ध अपील सामान्य मीर के पास ले जाने के कोई माने नहीं। पहली साखी में तो 'मीराँ' के माने स्पष्ट ही ईश्वर हैं। बिना उसके यह माने लगाये उक्त साखी का अर्थ ही नहीं बैठ सकता। इसलिए 'मीराँ' के माने हुए 'प्रभु' और 'मीरांबाई' के 'प्रभु-पत्नी', 'परमात्मा की स्त्री'। और जो

मेरे तो गिरिधर गुपाल, दूसरा न कोई।
जा कें सिर पै मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

की तान से परिचित है वह जानता है कि यह कितना सच है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह मीराँ शब्द है कैसा? वह किसी अन्य भाषा का तत्सम या तद्भव है या देशज? राजस्थान के एक प्रमुख विद्वान् से मैंने जब मीराबाई नाम के सम्बन्ध में पूछा तब उन्होंने कहा कि यह ख़ास राजस्थानी का शब्द है। परन्तु उस दशा में उसका व्युत्पत्ति-सम्मत अर्थ क्या होगा, यह उन्होंने कुछ नहीं बताया। कबीर-बानी के कबीर-ग्रन्थावली के ढंग के अधिकांश हस्तलेख या तो राजस्थान में, या किसी राजस्थानी के लिए या किसी राजस्थानी के द्वारा लिखे मिलते हैं इसलिए यदि मीराँ राजस्थानी का अपना शब्द है तो उसका मूल चाहे जो हो, यही अधिक संभव है कि जिस अर्थ में उसका प्रयोग कबीर-ग्रन्थावली में हुआ है, राजस्थानी में भी उसका वही अर्थ होगा। राजस्थानी शब्द मानने पर भी उसका मूल कहीं से ढूँढ़ना पड़ेगा। क्योंकि स्वयं राजस्थानी बोली में इस नाम के अतिरिक्त कहीं उसका प्रयोग नहीं मिलता जिससे हम उसे राजस्थानी का मूलतः अपना अथवा देशज शब्द मान सकते। किसी शब्द को देशज मानने का भी अर्थ कभी कभी यही होता है कि हम उसका मूल नहीं जानते।

हिन्दू नारी का नाम होने के कारण पहली आशा यही होती है कि इसका मूल भारतीय होगा। परन्तु मीरा या मीराँ को संस्कृत से निकालना बहुत खींचतान से ही सम्भव हो सकता है। संस्कृत-कोशों में एक शब्द 'मीर' आता है, जिससे इसकी व्युत्पत्ति सम्भव हो सकती है। मेदिनी-कोश में फेंकने के अर्थ में (प्रक्षेपणे) डुमिग् धातु से क्रन् प्रत्यय लगाकर इसकी सिद्धि की गई है। थियोडोर और बेन्फी ने इसे 'मी' धातु से निकाला है। मोनियर विलियम्स के और सेंट पीटर्सबर्गवाले तथा अन्य कोशों में सब जगह अर्थ सागर दिया गया है। (प्रभु, ईश्वर) नारायण का निवास सागर है। अतएव सम्भवतः बड़ी तोड़-मरोड़ के बाद मीरा के माने नारायण या ईश्वर लग सके। फिर भी संस्कृत में मीर शब्द का कहीं साहित्य में वास्तविक प्रयोग न मिलने से यही कहना पड़ता है कि इससे शायद ही मीरा बना हो। कोशों में सिद्धान्त-कौमुदी से यह शब्द लिया गया जान पड़ता है। वहाँ उणादिप्रकरण में उसका उल्लेख हुआ है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि यदि कहीं साहित्य में उसका प्रयोग नहीं मिलता तो वह कभी बोल-चाल में भी प्रयुक्त न होता रहा होगा, अन्यथा वह व्याकरण में ही कैसे आता। किन्तु यह शब्द अब इतना अपरिचित हो गया है कि उसे सहसा सुनते ही संस्कृत के विद्वान् भी संस्कृत का मानने को तैयार नहीं होते*। ऐसे शब्द से निकले हुए शब्द का प्रयोग हिन्दी में भी केवल कबीर में मिले, इसकी कम सम्भावना है।

तो क्या यह शब्द विदेशी है? फारसी में एक शब्द 'मीर' है, जिससे इसकी व्युत्पत्ति सम्भव हो सकती है। फ़रहंगे अनंदराज में मीर अमीर या मीरह का संकुचित रूप माना गया है। तेहरान से प्रकाशित एस० हैम के फारसी-अँगरेजी-कोष में इसकी निरुक्ति अमीर से की गई है। माने दोनों कोषों में एक-से हैं। मीर शुद्ध वंश के सैयदों के नामों के पहले आदर-प्रदर्शन के लिए जोड़ा जाता है और उसके माने सरदार या मालिक के होते हैं। यही अर्थ हिन्दी-शब्दसागर में भी दिया गया है। डाक्टर ताराचन्द के एक लेख में शाह मीरां जी शम्सुल उश्शाक का ज़िक्र आया है। मैंने उनसे पूछा कि इस नाम

---

*इस सम्बन्ध में एक बहुत रोचक तथ्य प्रकाश में आया है। लखनऊ-विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष तथा फ्रेन्च-भाषा के अध्यापक श्रीयुत के० ए० एस० आयर ने बताया है कि फरासीसी भाषा में मीर (mer) सागर के अर्थ में अब भी प्रयुक्त होता है। भूमध्य सागर के लिए फरासीसी पर्याय है Law mer meditterannee (the sea mediterranian) इटालियन भाषा में भी इससे मिलते-जुलते शब्द का सागर के अर्थ में प्रयुक्त होना कहा जाता है। इससे भी यही पता चलता है कि व्याकरण में निराधार ही इस शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। संस्कृत तथा योरपीय भाषाओं के बहुत-से शब्द एक ही मूल से निकले हुए हैं। संस्कृत के 'मीर' और फरासीसी 'मैर' का भी एक ही मूल जान पड़ता है। हो सकता है कि संस्कृत के क्षेत्र में वह बोलचाल ही तक सीमित रह गया हो, साहित्य में न आ पाया हो। आयर महोदय तो यह सम्भव समझते हैं कि इस शब्द का मूल विदेशी है और सम्भवतः यवनों (ग्रीकों) के संसर्ग से यह संस्कृत में गृहीत हुआ है। संस्कृत-कोशों का यह 'मीर' चाहे भारतीय हो अथवा विदेशी, उससे 'मीरा' का कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

—लेखक

में आया हुआ 'मीरां' क्या है। उन्होंने उत्तर में लिखा कि यह मीर का बहुवचन है। यह व्युत्पत्ति कबीर-ग्रंथावली में मिलनेवाले प्रयोगों के विरुद्ध भी नहीं जाती। यद्यपि इस्लाम में अल्लाह के सम्बन्ध में 'मीर' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, फिर भी लाक्षणिक प्रयोग से परमात्मा को मालिक कह सकते हैं, विशेषकर वे जो इस्लाम के अन्तर्गत नहीं हैं, जैसे कबीर। जान पड़ता है कि हिन्दी में आदर-प्रदर्शन के उद्देश्य से इस अर्थ में इस शब्द का सीधा बहुवचन रूप ही लिया गया है।

परन्तु सोलहवीं सदी के मध्य की किसी हिन्दू नारी के नाम में किसी फ़ारसी-मूलवाले शब्द का प्रयोग है विचित्र बात। आज भी जब कहीं कहीं पुरुषों में रामदत्त-सिंह रामबख़्शसिंह में बदल गये हैं, हिन्दू स्त्रियों के नामों में विदेशीपन नहीं आया है। अतएव यह कम सम्भव जान पड़ता है कि मीरांबाई माँ-बाप का रक्खा हुआ नाम हो। मीराबाई के पीछे तो मीरा नाम का सर्व-प्रिय होना स्वाभाविक है। परिणामतः आजकल कई स्त्रियों के नाम मीरा मिलते हैं। किन्तु सम्भवतः मीरा-बाई पहली मीरा थी और सम्भवतः मीराबाई उसका नाम न होकर उसकी व्यक्तिगत विशेषता की द्योतक उपाधि (या उपनाम) मात्र थी, जो सम्भवतः साधु-सन्तों के द्वारा उसे मिली हो और जिसके आगे उसका असली नाम विस्मृति के गह्वर में चला गया हो। मीरा की प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रसिद्ध है। वह परमात्मा को अपना पति समझती थी और परमात्मा के अतिरिक्त किसी को पुरुष नहीं मानती थी। यह नाम उसकी इसी विशेषता का द्योतक है और सम्भवतः इस बात का भी कि इस विशेषता का मूल कबीरी विचारधारा है। जैसा देख चुके हैं, कबीर में ही पहले-पहल हमें यह शब्द मिलता है। और सम्भवतः उन्हीं की-सी विचारधारावाले साधु-सन्तों से मीरा को यह नाम या उपाधि मिली हो। कबीर के द्वारा, जिसे मैं जात-मुसलमान मानता हूँ और जिसका मुसलमान कुल में पालापोसा जाना सब मानते हैं, फ़ारसी मूल से निकले हुए इस शब्द का प्रयोग अस्वाभाविक भी नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि रैदास मीराबाई के गुरु थे। मीरा के नाम से मिलनेवाली 'बानी' में तीन स्थलों पर इस बात का उल्लेख है। यह भी प्रसिद्ध है कि रैदास रामानन्द के शिष्य और कबीर के गुरु-भाई थे। नाभा जी ने स्वामी रामानन्द के शिष्यों को प्रेम-लक्षणा भक्ति का जिसको उन्होंने 'दशधा' कहा है, आगर ('दशधा के आगर') बताया है, यही मीरा की भी विशेषता है।

१९३९

❀ ❀ ❀

पुण्यस्मृति

पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल, बी० ए०

स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है इस विषय में कुशल साहित्यज्ञ लिखने के अधिकारी हैं। मुझ ऐसे अल्पज्ञ को तो द्विवेदी जी की पुण्यस्मृति में कुछ पंक्तियाँ ही लिखकर संतोष करना है। यों तो द्विवेदीजी की कीर्ति मैं लड़कपन ही में सुना करता था परन्तु तब मुझे ये समाचार ही मिलते थे कि द्विवेदीजी ने आज इस आदमी को रेल में नौकर रखवा दिया, कल उस आदमी को, उस समय उनके विषय में मेरी धारणा थी कि वे एक प्रभावशाली व्यक्ति हैं, जिन्हें परोपकार करने में आनन्द आता है। कुछ दिनों के बाद मुझे उनके लेखों के पढ़ने का अवसर इधर-उधर समाचार-पत्रों में प्राप्त हुआ, विशेषकर अजमेर से निकलने-वाले 'कान्यकुब्ज-सुधारक' में। लगभग ३८ वर्ष हुए पहली कान्यकुब्ज-कान्फ्रेन्स कानपुर में हुई थी। उसमें द्विवेदीजी भी पधारे थे। वहाँ द्विवेदीजी के दर्शन मुझे पहले-पहल हुए, परन्तु दूर ही से। समयाभाव के कारण मैं उनसे वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त न कर सका। कान्फ्रेन्स में पहले दिन थोड़ी देर बैठकर वे फिर न आ

सके। इसके तीन वर्ष के बाद जब कानपुर में प्लेग का प्रकोप हुआ, रेलवे-स्टेशन पर एक रिश्तेदार के निकट तम्बू लगाकर मुझे शरण लेनी पड़ी। उन दिनों 'कान्य-कुब्ज-सभा' में प्रतिष्ठित कान्यकुब्जों को भर्ती कराने की धुन मेरे ऊपर सवार थी। पता लगा कि द्विवेदीजी समीप ही जुही नामक गाँव में आ बसे हैं। बस, फिर क्या था! सोचा कि भारी शिकार हाथ आया। प्रवेश-पत्र लेकर द्विवेदीजी के स्थान पर जा पहुँचा। देखा कि द्विवेदी जी जल्दी फँसनेवाले असामी नहीं हैं। परन्तु उन्होंने मेरा स्वागत और सत्कार बड़े उत्साह से किया, जिसका प्रभाव मेरे हृदय पर बहुत कुछ पड़ा। शिष्टता की तो वे मूर्ति ही थे। दूसरे ही दिन वे 'विज़िट रिटर्न' करने को मेरे तम्बू में अपने मित्र आर्मी-प्रेस के प्रोप्राइटर लाला सीताराम के साथ आ पहुँचे। तदनन्तर उस 'वन-वास' की दशा में मेरा आना-जाना द्विवेदीजी के स्थान पर शीघ्रता के साथ होने लगा। प्रायः साहित्यिक चर्चा भी हुआ करती थी। तभी द्विवेदीजी ने मुझे अपनी 'काव्य-मंजूषा' भेंट की थी, जिसे पढ़कर मेरा हृदय अब भी गद्-गद हो जाता है। प्लेगप्रकोप के शान्त होने पर जब मैं अपने घर कुर्सवाँ लौट आया तब वहाँ भी द्विवेदीजी मेरे घर प्रायः पधारा करते थे। तब से उनकी कृपा मुझ पर यावज्जीवन अनवरत बनी रही। यह उनकी दयादृष्टि ही थी कि उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार मुझे दो दफे सौंपा। अन्यथा कहाँ 'सरस्वती' ऐसी पत्रिका का सम्पादन और कहाँ मेरी अल्पज्ञता!

सच तो यह है कि मेरे ऐसे कृपापात्र द्विवेदीजी के कितने ही लोग हैं। परोपकार करना उनकी प्रकृति थी। खरा और सच्चा व्यवहार करनेवाले उनसे बढ़कर थोड़े ही लोग होंगे। यही कारण है कि जिन-जिन लोगों का किसी न किसी रूप में उनसे सम्बन्ध रहा उनकी श्रद्धा और भक्ति द्विवेदीजी के प्रति बढ़ती ही गई। द्विवेदीजी की उग्र समालोचनाओं से उनके स्वभाव का पता लगाना भूल है। मुझे द्विवेदीजी की तरह कोमलहृदय सज्जन बहुत कम मिले हैं। मैंने दो-एक बार उनसे कहा भी कि 'आप समालोचना बहुत कड़ी करते हैं।' उत्तर मिला कि 'किन्तु-परन्तु' और 'अगर-मगर'वाली समालोचना से असर नहीं होता। उस ज़माने में बहुतेरे लेखक बंगाली और मराठी पत्रिकाओं से लेख चुराकर हिन्दी में अनुवाद करके अपने नाम से चलता कर दिया करते थे। यह डाकेज़नी द्विवेदीजी से कम छिपती थी, क्योंकि वे अन्य भाषाओं की भी पत्र-पत्रिकायें ध्यान से पढ़ा करते थे। आखिर 'वागपहरण' भी तो पाप ही है। शब्दचौर्य का बन्द कराना भी समालोचना का एक अंग है। यों भी कड़ी समालोचना करने के स्वभाव ने ही कभी-कभी उनमें और उनके बाज़-बाज़ मित्रों के बीच कुछ दिनों के लिए अनबन पैदा कर दी थी। उदाहरणार्थ 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'हिन्दी-भाषा और व्याकरण' आदि लेखों ने तत्कालीन हिन्दी-साहित्य-संसार में कुछ हलचल उत्पन्न कर दी थी और वाद-विवाद महीनों चलता रहा। एक ओर 'भारतमित्र' के सम्पादक स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त और उनकी मित्र-मण्डली थी और दूसरी ओर द्विवेदी जी, पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र और वेंकटेश्वर-समाचार के सम्पादक श्री अमृतलाल चक्रवर्ती तथा पण्डित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री थे। उस समय के प्रकाशित बाज़-बाज़ लेख तो साहित्य की दृष्टि से अब भी रुचिकर हैं। 'सरस्वती' काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित थी। द्विवेदीजी ने अपने सम्पादकत्व में 'सरस्वती' में सभा की खोज की पुस्तकों की रिपोर्ट की समालोचना कर डाली। इस पर सभा के कुछ पदाधिकारियों ने एतराज किया और सभा के 'अनुमोदन का अन्त' हो गया। द्विवेदीजी का पक्ष था कि सभा की कार्यवाही की समालोचना करने का 'सरस्वती' को सभा की संरक्षा में रहते हुए भी अधिकार है। इसी विचार की पुष्टि में द्विवेदीजी ने मिल की 'लिबर्टी' नामक पुस्तक का अनुवाद कर डाला। इसी प्रकार 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' लिखने के अनन्तर जब किसी ने उनसे ये व्यंग्यात्मक शब्द कहे कि 'भला आप ही कुछ लिखकर बतलाइए कि हिन्दी-कविता में कालिदास के भाव कैसे प्रकट किये जायँ' तब नमूने के तौर पर द्विवेदीजी ने कुमारसम्भव के प्रारम्भ के ५ सर्गों का अनुवाद कर 'कुमार-सम्भवसार' के नाम से प्रकाशित किया।

'सरस्वती' के सम्पादन का भार लेने के पहले से ही द्विवेदीजी का ध्यान गद्य लिखने की ओर आकृष्ट हो गया था। कविता लिखना कम कर दिया था। और लिखते भी थे तो 'खड़ी बोली' में। अपने मित्रों को भी वे खड़ी बोली में ही कविता करने के लिए उत्साहित करने लगे थे। उनका विचार था कि कविता भी उसी भाषा में होनी

चाहिए जिसमें गद्य लिखा जाता है। उत्तम कविता के लिए किसी भाषा विशेष की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी प्रतिभा की। भावशून्य और नीरस जन किसी भी बोली में अच्छी कविता नहीं कर सकते। पण्डित नाथूराम-शंकर, पण्डित रामचरित उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि मित्रों की कविता खड़ी बोली में ही 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगी। राय साहब यद्यपि खड़ी बोली में कविता करने लगे, तथापि उनका अनुराग 'ब्रजभाषा' से कभी नहीं छूटा। राय साहब का 'रसिकसमाज' ब्रजभाषा ही का भक्त रहा और उनकी 'रसिक-वाटिका' भी ब्रजभाषा ही से प्रफुल्लित रही। कविता के विषय और विधि में भी द्विवेदी जी स्वातंत्र्य चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि कविजन समस्यापूर्त्तियों और नायक-नायिकाओं की मीमांसा में न उलझकर पर-मेश्वर की सृष्टि में उत्पन्न और भी पदार्थों का वर्णन करें, सिर्फ दोहे-चौपाई, सवैया, कवित्त आदि इने-गिने कुछ छन्दों में ही नहीं, किन्तु और भी अनेक छन्दों में। द्विवेदी जी की गद्यशैली में भी शीघ्र ही परिवर्तन हो गया। 'वेकन-विचार-रत्नावली' की भाषा और कुछ काल के बाद 'सरस्वती' की भाषा में अन्तर साफ-साफ मालूम होने लगा। जहाँ तक हो सकता था वे भाषा सरल और सुबोध लिखते थे और अन्यान्य भाषाओं के ऐसे शब्दों के प्रयोग करने में उन्हें जरा भी परहेज न रह गया था जो शब्द व्यवहार में प्रचलित हो गये थे। वे मुझसे कहते थे कि 'सरस्वती' के पाठकों की संख्या बढ़ने का एक यह भी कारण है कि उसकी भाषा उत्तरोत्तर सरल होती जाती है। जो हो, जैसा मैंने पहले कहा, अपनी अल्पज्ञता के कारण द्विवेदी जी की साहित्य-सेवा और उसकी विवेचना करने के सम्बन्ध में मैं अपने को अधिकारी नहीं समझता। प्रसंग-वश मैंने ये बातें लिख दी हैं। मेरा अभिप्राय उनके शील-स्वभाव के विषय में ही कुछ चर्चा कर देने का है।

द्विवेदीजी ने किसी यूनिवर्सिटी में शिक्षा प्राप्तकर डिग्रियाँ हासिल नहीं की थीं। आर्थिक दृष्टि से भी उनका बाल्यकाल साधारण घर में ही बीता था। जीविका भी उन्हें अत्यल्प वेतनवाली रेलवे में ही मिली। परन्तु उनकी बुद्धि ऐसी प्रखर थी और उनका विद्यानुराग ऐसा प्रबल था कि प्रतिकूल परिस्थितियों में रहते हुए भी अनेक भाषाओं में उन्होंने पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। अपने रेलवे के कार्य में भी दक्ष होकर शीघ्र ही उच्च पद पर विराजमान हो प्रभावशाली बन गये। उनके अफ़सर उन्हें बहुत मानते थे। अपने दफ्तर का कार्य थोड़ी ही देर में सुचारु-रूप में समाप्त कर बाकी वक्त साहित्यावलोकन में व्यतीत करते थे। समय परिवर्तनशील है। द्विवेदीजी की क़द्र करनेवाले अफसरों के चले जाने के बाद कुछ लोग ऐसे आये जिन्हें द्विवेदीजी का रंग-ढंग पसन्द न आया और न द्विवेदीजी को उनका। एक दिन उनके अफसर नये साहब बहादुर ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हुए उनसे कह दिया कि यदि आपकी ऐसी ही गति रही तो कहीं आपको इस्तीफ़ा न देना पड़े। साहब बहादुर की यह धमकी द्विवेदी जी कब बर्दाश्त कर सकते थे! उन्होंने दूसरे ही दिन इस्तीफ़ा दे दिया। अपने प्रतिष्ठित और पर्याप्त वेतनवाले पद के परित्याग करने में उन्हें ज़रा भी हिचक न हुई। दफ्तर से आकर उन्होंने केवल अपनी धर्मपत्नी से इसका जिक्र करते हुए कहा कि अब हम लोगों को गरीबी में ही जिन्दगी बसर करनी पड़ेगी। द्विवेदीजी की धर्मपत्नी भी पतिव्रता हिन्दूमहिला थीं। उन्हें भला गरीबी और अमीरी से क्या मतलब! उनकी प्रसन्नता तो द्विवेदीजी के प्रसन्न रहने में थी। तदनन्तर साहब बहादुर के पश्चात्ताप करने और अनेक मित्रों के समझाने पर भी द्विवेदीजी ने इस्तीफ़ा वापस न लिया। 'सरस्वती'-सम्पादन का भार उन दिनों में लिया ही था। उसकी ग्राहक-संख्या भी थोड़ी थी। उसके द्वारा प्राप्त अत्यल्प वेतन के सहारे ही जुही में एक मित्र के घर के एक कोने में द्विवेदीजी आ विराजे। अपनी लम्बी तन-ख्वाहवाली रेलवे की नौकरी को लात मारने के पहले उन्होंने ७ सितम्बर १९०२ के अवध-समाचार में प्रकाशित 'सेवावृत्ति की विगर्हणा' शीर्षक कविता लिखी थी, जिसकी निम्नलिखित पंक्तियों से सेवावृत्ति के विरुद्ध उनका हृदयगत भाव प्रकट होता है—

"सेवा-समान अति दुस्तर दुःखदायी
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई।
जीना कभी न उसका जग में भला है;
जो पेट-हेत पर-सेवन को चला है॥

"आलस्यलीन, शुचि-सज्जनता-विहीन,
अन्तर्मलीन, पर-पीड़न में प्रवीण।

दे दैव! दण्ड मन जो कुछ और आवै;
ऐसे प्रभु-प्रवर से पर तू बचावै॥

द्विवेदीजी परोपकारी, दयालु और बात के धनी थे। कितने ही लोगों की जीविका उनकी बदौलत रेल में और अन्यत्र हो गई। अपने कुछ रिश्तेदारों और मित्रों के न रहने पर उनके कुटुम्बों की रक्षा और आर्थिक सहायता अपने ऊपर अनेक कष्ट उठाकर भी द्विवेदीजी ने बरसों की। सद्व्यवहार में तो वे कभी चूकते ही न थे। द्विवेदी जी जिसकी मदद करते थे, दिलोजान से करते थे। अपने धुन के पक्के थे। वादाखिलाफी से उन्हें सख्त नफरत थी। यदि अनायास ही कभी उनकी जबान से कोई बात निकल जाती थी तो अपने वचन के प्रतिपालन करने में वे कुछ उठा न रखते थे, चाहे उन्हें इसमें कितना ही कष्ट क्यों न हो। मुझे स्मरण है कि यदि उनके मुख से कभी यह निकल गया कि अमुक दिन आपके घर अमुक समय आऊँगा तो फिर चाहे कितने ही विघ्न क्यों न उपस्थित हो जायँ, उस दिन और उसी समय वे वहाँ पहुँच ही जायँगे। कितनी ही बार ऐसा हुआ कि ज्येष्ठ मास के अपराह्न में द्विवेदीजी कानों में दुपट्टा लपेटे, लू में, छाता लिये मेरे मकान पर कम से कम ढाई कोस पैदल आ पहुँचते थे। मैंने उनसे कहा भी कि ऐसा क्या काम था, लू चल रही है, फिर कभी दर्शन हो जाते। उत्तर मिलता, भाई, कह दिया था, आते कैसे न? जिन लोगों को उनसे पत्र-व्यवहार करने का अवसर मिला है वे जानते होंगे कि पत्रोत्तर वे यथाशक्ति वापसी डाक ही से दिया करते थे। उनमें त्रुटि यही थी कि वे आशा करते थे कि दूसरे लोग भी उनके साथ ऐसा ही बर्ताव करें। जब और जहाँ यह बात न पाते थे, चिढ़ जाते थे। मुझ ऐसे ढीले-ढाले आदमी पर तो कई बार उनकी खफ़गी हुई, परन्तु बहुत दिन ठहरी नहीं। थोड़ी ही डाँट-फटकार खाने के बाद मेरा छुटकारा हो जाता था।

मित्रों और सम्बन्धियों के प्रति द्विवेदीजी का जो सद्व्यवहार था उसे जाने दीजिए। अपने दास और दासियों की ओर भी सदा सदय रहते थे। अपराध करने पर भी नौकरों को कठोर वचन कहते मैंने उन्हें कभी नहीं सुना। बहुत दिनों के बाद ही मुझे यह पता लगा कि वे लोग उनके दासदासी हैं। उनकी वेशभूषा और उनके प्रति किये गये बर्ताव को देखकर तो यही जान पड़ता था कि वे लोग नौकर नहीं, कुटुम्बी हैं। दूसरों को भी अपने आश्रितों और सेवकों के साथ कठोरता का व्यवहार देखकर वे दुःखी हो जाते थे।

द्विवेदीजी के कोई सन्तान न होने के कारण उनकी माता सदैव दुःखी रहीं। एक दिन अपनी माता को विशेष सन्तप्त देखकर उनसे न रहा गया। उन्हें समझाने के बाद ८ जनवरी १९०० के 'भारतमित्र' में प्रकाशित 'सुतपंचाशिका' लिख डाली। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

हे मातु! वृथा कत करहु शोक?
सुनि कँहहिं कह बुधिवन्त लोक?
जामे न कछू अपनी बसाय,
खेदित तदर्थ को होहि माय?
सुत-वदन-धूरि धरि भूरि लोक,
दुखहू महँ होवहिं विगत-शोक।
यह सर्व सत्य, पै सुनहु तत्त्व,
कर अपने में नहि ईश्वरत्व॥

× × ×

सुतही सुमुक्ति-दाता प्रवीन,
अस बोलहिं केवल बुद्धिहीन।
जिहि जाति माँहि नहिं पिण्डदान,
सब जावै नरकहि! कह प्रमान!
सत्कर्म्म, धर्म्म, अरु दयाभाव,
उपकार, सदा सरलस्वभाव।
सन्मुक्ति हेतु एही समर्थ;
आडम्बर और विशेष व्यर्थ॥

यद्यपि द्विवेदीजी के स्वभाव में गाम्भीर्य की मात्रा विशेष थी, तथापि उनका हृदय परिहास से सर्वथा शून्य नहीं था। एक बार उनके पास एक सम्पादक महोदय की ओर से कविता की माँग आई परन्तु यह शर्त थी कि वह न तो धार्मिक विषय की हो और न सामाजिक या राजनैतिक हो। इस पर द्विवेदी जी को मजाक सूझा। कहने लगे कि इस तरह तो प्रायः सभी विषय निकल गये, कविता काहे पर की जाय? गधे पर? बहुत अच्छा, "गर्दभ-काव्य" ही सही। यह कविता २९ अगस्त १८९८ के 'हिन्दी-वङ्गवासी' में प्रकाशित हो गई, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

विप्रवर्ग से छठि आठँ है, क्षत्री महा जुझारा है,
वैश्य जाति के यहाँ हमारो घंटा भरि न गुजारा है।

योग्य जानि यजमान आपनों हम धोबी स्वीकारा है;
सच्ची कहना ऐसो उज्ज्वल कोई और निहारा है?
परम प्रसिद्ध राम को वैरी खर सो ससुर हमारा है,
कान कान्ह के खड़े कीन जिन धेनुक, सोई सारा है
नाम धरैं जे तऊ हमारो तिन मानहु झख मारा है;
जाके अति ऊँचे सम्बन्धी ताको कहैं नकारा है?
बड़े बड़े कवि, पण्डित, ज्ञानी, जग जिनते उजियारा है;
तेऊ लहैं उपाधि हमारी जब तब; अस सत्कारा है॥

१९३९

❀ ❀ ❀

आग पर चलना

प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा

(१)

गत मई मास में जब मैं गरमी की छुट्टियाँ राँची में बिता रहा था, राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद भी राँची में आये हुए थे। वहाँ की ऊराँव और मुंडा जातियों के कुछ व्यक्तियों ने एक अवसर पर निमंत्रित कर आपको आग पर चलने की क्रिया दिखलाई। उसका वर्णन राष्ट्रपतिजी ने मुझसे इस प्रकार किया था--उन लोगों ने प्रायः १२ फुट लम्बा और डेढ़ फुट चौड़ा एक गड्ढा बनाया था। उस गड्ढे में लकड़ी जलाकर दहकते अँगारे बनाये थे। चलने के पहले उन अंगारों को सूप से धौंककर राख को हटाकर आग को और तेज कर लिया था। फिर कुछ पूजा-पाठ और मंत्र इत्यादि पढ़कर स्नानकर अनेक आदमी उस आग पर से चले गये और उनके पैर नहीं जले और न पैरों में कोई छाले ही पड़े। डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी का एक नौकर भी उस आग पर से चला गया और उसके भी पैर नहीं जले। ऐसा क्यों होता है, यह प्रश्न साधारणतया पूछा जाता है। इसकी वैज्ञानिक व्याख्या क्या हो सकती है, यह प्रश्न भी वैज्ञानिकों से पूछा जाता है। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी ने भी ऐसा ही प्रश्न पूछा था। अनेक वर्षों से वैज्ञानिकों ने आग पर चलने के रहस्य के जानने की चेष्टा की है और उसके फलस्वरूप जो कुछ वैज्ञानिकों को मालूम हो सका है वह इस लेख में पाठकों के सामने रक्खा जाता है।

आग पर चलने की प्रथा इस देश में बहुत पुरानी है और जहाँ-जहाँ भारतवासी गये हैं--जैसे दक्षिण-अफ्रीका, नेटाल, मॉरिशस, ट्रिनीडाड इत्यादि जगहों में--वहाँ वहाँ यह प्रथा प्रचलित है। फिजी, हवाई इत्यादि पोलीनिशिया के टापुओं में तप्त पत्थरों पर चलने की प्रथा विद्यमान है। जापान में भी आग पर चलने की प्रथा प्रचलित है। इन घटनाओं को योरप और अमेरिका के निवासियों ने अनेक बार देखा है और पाश्चात्य देशों के पत्रों में इनका वर्णन किया है। इस कारण इसकी ओर पाश्चात्य देश के वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने आग पर चलने पर पैर के न जलने के कारणों को ढूँढ़ निकाला है।

आग पर चलने के लिए साधारणतया ६ से १२ फुट लम्बा गड्ढा खोदा जाता है। कभी-कभी गड्ढा इससे भी अधिक लम्बा होता है। यह गड्ढा प्रायः डेढ़ फुट गहरा और प्रायः डेढ़ ही फुट चौड़ा होता है। गड्ढे में लकड़ियाँ जला दी जाती हैं। जब लकड़ियों के जल जाने पर उनकी लहर बुझ जाती है और लाल लाल अंगारे बन जाते हैं तब चलनेवाले उन पर खाली पैर धीरे-धीरे चलते हैं। इससे उन्हें कुछ कष्ट नहीं होता और उनके पैर नहीं जलते और न उनमें छाले ही पड़ते हैं। क्या इस आग पर चलनेवाले मनुष्य में कोई दैवीशक्ति है?

अमेरिका के प्रोफेसर लांग्ले ने तप्त पत्थर पर चलने की क्रिया सोसायटी टापू के रैटिया नामक स्थान में देखी थी। २१ फुट लम्बा, ९ फुट चौड़ा और प्रायः डेढ़ फुट गहरा एक गड्ढा खोदा गया था। उसमें लकड़ी डालकर उस पर पत्थर के २०० टुकड़े जिनकी तोल प्रायः २० से ४० सेर होगी, रखकर लकड़ी जलाई गई थी।

चार घंटे में सब पत्थर लाल हो गये थे। उनके भड़कने से तेज आवाजें हो रही थीं। चलनेवाले उन दहकते हुए पत्थरों पर चले और उनके पैर नहीं जले। उन पत्थरों में से एक को निकालकर प्रोफेसर लांग्ले ने बाल्टी के पानी में रक्खा। वह पानी १२ मिनट तक खौलता रहा। उस पत्थर को वे वाशिंगटन ले गये और वैसा ही गरम कर उसका तापक्रम नापा तब वह प्रायः १२०० डिगरी फारेनहाइट हुआ।

परसीवल लोवेल ने जापान में अंगारों पर चलने की क्रिया का वर्णन किया है। १२ से १८ फुट लम्बा एक गड्ढा खोदा गया था। उसमें कोयले रखकर जलाये गये थे। जब वे कोयले जलकर लाल हो गयें तब पुजारियों ने उन पर फूंककर कुछ मंत्र पढ़े, फिर खाली पैर उन पर चले गये। उनके पैर को कोई नुकसान नहीं पहुँचा। लोवेल ने इस घटना की व्याख्या यह की है कि उनके तलवे के चमड़े बड़े मोटे और कड़े थे। •साधारणतया पूर्व-देश के निवासियों के पैर के चमड़े उतने कोमल नहीं होते और उनके अति-आह्लाद और मानसिक उन्नतावस्था के कारण उनके पैर नहीं जलते।

भारतवर्ष से एक अँगरेज ने आग पर चलने का अँगरेजी-पत्रों में वर्णन किया है। यह घटना चिंगलपेट-जिले के पालावरम गाँव में हुई थी। उसमें १८ वर्ष की उम्र से ६५ वर्ष की उम्र तक के १८ आदमी सम्मिलित हुए थे। १८ फुट लम्बे, १३ फुट चौड़े और ४ फुट गहरे गड्ढे में छः घंटे लकड़ी जलाकर आग तैयार की गई थी। ये अठारहो आदमी कमर में केवल कौपीन पहने हुए थे। आग पर चलने के तुरन्त पहले इन लोगों ने कौपीन पहन-कर स्नान किया और भीगे कौपीन को पहने हुए ही कुछ मंत्रों को उच्चारण करते हुए आग पर चले गये। दूसरी बार ५५ आदमी उस आग पर चले और उनमें केवल एक आदमी के पैर कुछ जले और उन पर छाले पड़े थे। यदि ये सब बातें धोखा होतीं तो एक ही आदमी के पैर क्यों जलते? उस अँगरेज दर्शक का मत था कि ये लोग अंगारे पर चलने के पहले—कुछ मिनट व घंटे व दिन पहले—पैरों में कोई प्रबल रस लगा लेते हैं, जो धोने पर भी नहीं छूटता है; उसी के कारण उनके पैर नहीं जलते। आग पर चलने के पहले स्नान करने का तात्पर्य दूसरों को यह दिखलाना होता है कि उनके पैरों में कुछ लगा हुआ नहीं है।

दक्षिण-अफ्रीका के नेटाल-प्रान्त में जो भारतवासी हैं उनमें भी आग पर चलने की प्रथा प्रचलित है और इस प्रथा का वर्णन हौले विलियम्स नामक एक व्यक्ति ने एक स्थान पर किया है। यह कार्य वहाँ धार्मिक पवित्रता के लिए किया जाता है। आग पर चलनेवाले पाप से मुक्त हो जाते हैं और भविष्य में भी पाप-कर्म करने से बचते हैं। वे दस दिन पहले से इसकी तैयारी करते हैं। इस बीच वे मांस-मदिरा और स्त्री-प्रसंग से परहेज करते हैं। प्रतिदिन दो बार स्नान करते हैं। देवताओं के सामने प्रार्थना और अर्चना करते हैं। वे किसी ओषधि का सेवन नहीं करते और न चमड़े पर कोई रस ही लगाते हैं। पर जूता न पहनने के कारण अधिकांश भारतीयों के चमड़े कड़े होते हैं। जिस दिन आग पर चलना होता है उस दिन पुजारी की आज्ञा से नजदीक की किसी नदी में स्नान करते हैं। उस समय स्त्रियाँ पीला कपड़ा पहनकर गाती और नाचती हैं। युवक-मण्डली बाजे-गाजे के साथ उन्हें मन्दिर में ले जाती है, जहाँ वे २० फुट लम्बे, १० फुट चौड़े और डेढ़ फुट गहरे गड्ढे में तैयार की हुई आग के लाल-लाल अंगारों पर चलते हैं। सबसे पहले पुजारी चलता है। फिर दो-दो व तीन-तीन की पंक्ति में भक्त लोग चलते हैं। उनमें कुछ तेजी से चलते हैं और कुछ धीरे-धीरे। कुछ लोग विश्वास छूट जाने से गड्ढे के बगल से भाग निकलते हैं और कुछ थोड़ी देर के लिए बगल में रक्खी घास पर स्थिर हो फिर चलना शुरू करते हैं, पर किसी को कोई हानि नहीं होती। दो योरपीय भी इस अवसर पर इस कार्य में सम्मिलित हुए थे। उन लोगों ने भी दस दिन की उक्त तैयारी की थी। उनमें एक तो बिना किसी नुकसान के आग पर से चला गया, पर दूसरे के अँगूठे में एक छोटा फफोला पड़ गया था। ईश्वर पर विश्वास रखना और पवित्र रहना ही न जलने का कारण बतलाया जाता है।

एक अँगरेज दर्शक ने इस घटना की व्याख्या इस प्रकार की है। आग पर चलनेवाले जब आग पर चलते हैं तब उनके पैर भीगे रहते हैं। उनके वस्त्र से भी पानी टपकता रहता है। पानी की बूंदें अंगारों पर पड़कर बाष्प बनती

हैं। इससे अंगारे और पैर के तलवे के बीच वाष्प का एक गद्दा बन जाता है, जो पैर को जलने से बचाता है। द्रव वायु को हाथ की हथेली पर रखने से कष्ट का अनुभव नहीं होता, इसका कारण भी हाथ की हथेली और द्रव वायु के बीच वाष्पीय वायु का रहना है। द्रव पदार्थों की उपगोल अवस्था से प्रायः सभी वैज्ञानिक परिचित हैं। पर यह व्याख्या ठीक नहीं जँचती।

सनफ्रांसिस्को के रिचार्ड मार्टिन नामक व्यक्ति ने अपनी आँखों देखी आग पर चलने की घटना का वर्णन किया है। उसकी राय में इसमें कोई रहस्य नहीं है। यह घटना दक्षिणी प्रशान्त महासागर के टाहिटी टापू में हुई थी। १८ फुट लम्बा, १२ फुट चौड़ा और ३ फुट गहरा एक गड्ढा खोदा गया था। इस गड्ढे के पेंदे में १२ इंच से २४ इंच व्यास के झाँवे रक्खे हुए थे। इन झाँवों पर लकड़ी के कुन्दे जल रहे थे। इनकी लहरें ६ फुट तक ऊँची जाती थीं। जब जलकर लकड़ी की लौ बुझ गई तब उन लोगों ने लकड़ी की लग्गी से चलाकर अंगारों को झाँवे से नीचे कर दिया। इससे झाँवों के ऊपर के आधे हिस्से के तल का लालपन दूर हो गया, पर निचला आधा भाग लाल ही रहा। अब वहाँ के छः आदमी घुटनों तक सूती वस्त्र पहने वहाँ आये। वे अपने हाथों में पत्तों का एक लम्बा गुच्छा लिये हुए थे। गड्ढे के निकट पहुँचकर गुच्छों से उन्होंने गड्ढे को स्पर्श किया, आकाश की ओर मुँह करके कोई दो दर्जन शब्द जोरों से बोले और फिर झुककर तप्त झाँवों को तीन बार हाथ के गुच्छों से मारकर बिना किसी हिचकिचाहट के शान्ति-भाव से नंगे पैर उन तप्त झांवों पर चलकर १८ फुट पार कर गये, दूसरे किनारे पहुँचकर फिर उसी रास्ते से वापस लौट आये। ज्योंही उनका चलना समाप्त हुआ, मार्टिन साहब भी उन पर चलने के लिए तैयार हो गये। पहले उन्होंने अपने नंगे पैर को एक झाँवे पर रखकर जल्दी से हटा लिया। उनके पैर में कोई तकलीफ नहीं हुई। इसके बाद वे उस पर चले और १८ फुट तय कर उसी राह लौटे। वे वहाँ के आदमियों से कुछ अधिक तेज चले थे। उन्होंने अपने पैर की परीक्षा करके देखा। उनमें कोई चोट न पहुँची थी। इसके दो मिनट बाद वे फिर चार बार उन पर चले। इस चार बार के चलने से उनके पैर में एक छोटा छाला पड़ गया था। इस बार तप्त झाँवा कुछ अधिक गरम मालूम हुआ था, पर असहनीय नहीं था।

(२)

अब लण्डन-विश्वविद्यालय के कुछ वैज्ञानिकों ने आग पर चलने के रहस्य के अन्वेषण का काम हाथों में लिया। दस सदस्यों की एक कमिटी बनी, जिनमें चार प्रोफेसर थे। इन लोगों ने पत्रों में आग पर चलनेवालों के लिए विज्ञापन दिया। अनेक व्यक्ति लण्डन पहुँचे, जिन्होंने आग पर चलने की घटना देखी थी। पर उनमें कोई स्वयं आग पर चलने के लिए तैयार न हुआ। अन्त में भारत का एक जादूगर खुदाबख्श लण्डन गया और आग पर चलने के लिए तैयार हो गया। इसकी तैयारी लण्डन में होने लगी। हैरी प्राइस के शब्दों में इस प्रयोग का उद्देश्य यह देखना था कि आग पर चलने से खुदाबख्श का पैर जलता है या नहीं। यदि जलता नहीं है तो क्यों? क्या आग पर चलने में कोई कपट-व्यवहार है? क्या कोई भी आदमी आग पर चल सकता है? क्या आग पर चलनेवाला अपने पैरों में कुछ लगाता है। क्या दूसरे के पैर आग पर चलने से नहीं जल सकते? क्या वह अपने पैर को फिटकरी, नमक, साबुन और सोडे की लेई से ढँक लेता है जैसा कि कुछ लोग कहते हैं? क्या उनका विश्वास व अति आह्लाद उन्हें जलने से बचाता है? क्या वे कोई अन्य शून्यकारक ओषधि अपने पैरों में लगाते हैं? क्या आग के ऊपर राखकी जो तह रहती है वह जलने से बचाती है? क्या चलनेवाला जल्दी चलकर अपने पैरों को जलने से बचाता है या बहुत धीरे धीरे चलकर जलने से बचाता है? क्या वह अपने को किसी मानसिक व शारीरिक रीति से कुछ ऐसा बना लेता है कि उससे उसके पैर नहीं जलते? खुदाबख्श का कहना था कि उसका विश्वास ही उसे जलने से बचाता है और वह औरों को भी आग पर चला सकता है।

लण्डन में २५ फुट लम्बा, ३ फुट चौड़ा और एक फुट गहरा गड्ढा खोदा गया। उसमें ३ टन (एक टन प्रायः २७ मन का होता है) लकड़ी डाली गई और एक निश्चित तिथि को जलाई गई। डेढ़ घंटे के बाद उसमें कोयला डाला गया ताकि उसका तल अधिक गरम अधिक स्वच्छ और चिकना रहे। साढ़े तीन घण्टे में लकड़ियाँ जलकर दहकते हुए अंगारे बन गईं। उनकी तह प्रायः

३ इंच मोटी थी। खुदाबख्श के मतानुसार अंगारों की मोटाई कम से कम ९ इंच होनी चाहिए। ऐसा क्यों होना चाहिए, इसका उत्तर वह ठीक प्रकार से न दे सका। चलने से पहले आक्सफोर्ड के डाक्टर विलियम कोलियेंर ने खुदाबख्श के पैर की परीक्षा की। उन्होंने बताया कि उसके पैर सामान्य हैं। पैर की पोछन ली गई और उसकी परीक्षा हुई। उसमें भी कोई विशेष बात न पाई गई। उसका एक पैर धो डाला गया ताकि यदि उसमें कुछ लगा हो तो वह दूर हो जाय।

उस गड्ढे के एक छोर पर खड़े होकर खुदाबख्श ने कुरान से कुछ प्रार्थनायें पढ़ीं और तब वह उस आग पर चार कदम रखकर--हर कदम पर दो बार आग को छूता--चला गया। वह दौड़ा तो नहीं, पर कुछ तेजी से जरूर चला और बगल में हट गया और कहा कि आग की मोटाई कम है। इसके बाद वह तीन बार और चला। उसके पैरों की फिर परीक्षा हुई। उनमें कोई चोट नहीं थी। ३० मिनट के बाद तक भी उसके पैरों में फफोले नहीं पड़े। उसे चलने के लिए फिर कहा गया, पर उसने यह कहकर इनकार कर दिया कि आग उसके इच्छानुकूल नहीं है। अब किसी वैज्ञानिक के कहने पर लकड़ी के जूते में कपड़ा बाँधकर उस कृत्रिम जूते को उस आग पर चलाया गया। कुछ सेकंड में ही वह कपड़ा झुलस गया और २½ सेकंड में अनेक जगहों पर वह जल गया।

सेंट वार्थोलोमर हास्पिटल जर्नल के सम्पादक डिगबी मोयनाघ ने स्वयं आग पर चलने का विचार किया और अपने नंगे पैर को अंगारे पर रक्खा। उनके पैर में कुछ देर तक रुबरुबाहट रही। फिर वे दो कदम चले और यह कहते हुए उछल निकले कि "गरम है"। ३० मिनट में उनके पैर में फफोले निकल आये। खुदाबख्श की अपेक्षा वे अधिक तेजी से आग पर चले थे। उनकी तोल १६८ पौंड थी। खुदाबख्श की तोल केवल १२० पौंड थी। शायद जल्दी चलने से उनके पैर में छाले पड़ गये अथवा हो सकता है कि हलका मनुष्य भारी मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुभीते से आग पर चल सकता है।

फिर दूसरी बार खुदाबख्श के साथ प्रयोग हुआ। इस बार करीब ८ टन जलावटन ओक के कुन्दे और लकड़ी के कोयले जलाये गये। ९ इंच गहरा और ६ फुट चौड़ा गड्ढा बना। २५ फुट की एक लम्बाई के स्थान में ११-११ फुट के दो गड्ढे बने और उनके बीच में ३ फुट का स्थान मिट्टी से भरा रहा। पहले प्रयोग के आठ दिन के बाद यह दूसरा प्रयोग हुआ। लकड़ियाँ जला दी गईं। और कुछ घण्टों के बाद गड्ढा दहकते हुए अंगारों से भर गया। सुबह में लकड़ी का जलना शुरू हुआ और करीब १ बजे दिन में दहकते हुए लाल अंगारे तैयार हो गये। उनसे जो गर्मी निकलती थी उसका अनुभव ६५ फुट की दूरी तक से हो सकता था। हवा तेज चल रही थी। अंगारे प्रायः सफेद गरम हो गये थे और उनसे राख निकल रही थी। उस पर लकड़ी का कोयला डाला गया। २० मिनट में वे लाल हो गये। चार प्रोफेसरों और वैज्ञानिकों ने खुदाबख्श की परीक्षा की। उसके तलवे की परीक्षा करके वैज्ञानिकों ने बताया कि उसके तलवे में कोई विशेषता नहीं है। तलवे का चमड़ा कोई विशेष मोटा नहीं था। वह साधारणतया कोमल था। छूने से पैर ठंडा मालूम होता था। तापमापक से पैर का तापक्रम ९३·२ डिगरी था। चमड़ा बिलकुल सूखा था। पैर को धोकर खूब पोछ डाला गया ताकि उस पर आग का असर आसानी से देखा जा सके।

लकड़ी जलाये जाने के ७ घण्टे के बाद खुदाबख्श उस पर चला। पहले ११ फुट लम्बे गड्ढे को चार कदमों में ४ सेकंड में पार कर गया। उसका प्रत्येक कदम स्पष्ट, एक-सा और अपेक्षाकृत कुछ तेज था। वैज्ञानिकों की गणना से प्रत्येक पैर प्रायः आधा सेकंड अंगारों के संसर्ग में था। चलने के बाद खुदाबख्श के पैर का तापक्रम ९३ डिगरी था। चलने से पहले की अपेक्षा कुछ कम। आग पर चलने के बाद खुदाबख्श कुछ कदम घास पर चला था। उसके पैर में कोई चोट नहीं थी। वह फिर एक बार चार कदम आग पर चला। उस समय व ४८ मिनट के बाद तक उसके पैरों में कोई फफोला न पड़ा। उस आग के तापक्रम के जानने की वैज्ञानिकों को उत्सुकता हुई और जाँच से मालूम हुआ कि उसके पृष्ठ-भाग का तापक्रम ४३० डिगरी शतांश व ८०६ डिगरी फारेनहाइट था। स्वयं आग का तापक्रम १४०० डिगरी शतांश व २५५२ डिगरी फारेनहाइट था। इस तापक्रम को श्वेत ताप का तापक्रम कहते हैं। वास्तव में यह इतना ऊँचा तापक्रम है कि इसके निम्नतापक्रम पर ही इसपात गलकर द्रव हो जाता है। हवा के तेज चलने से इतना ऊँचा तापक्रम हो गया था।

जब तीसरी बार खुदाबख्श से इस आग पर चलने के लिए कहा गया तब उसने पहले तो कुछ समय माँगा, पर पीछे चलने से इन्कार कर दिया और कहा कि "मेरी हिम्मत टूट गई है। मेरा विश्वास हट गया है। यदि मैं अब चलूँ तो जल जाऊँगा।" वह चिन्तित और घबराया हुआ मालूम हुआ। इससे फिर तीसरी बार चलने के लिए उस पर जोर नहीं दिया गया।

डिगले गोयानघ जिन्होंने ८ दिन पूर्व के प्रयोग में आग पर चलने की कोशिश की थी, इस बार भी दो कदम चले और कूद निकले। उनके पैर की परीक्षा से मालूम हुआ कि उनके तलवे में अनेक फफोले पड़ गये थें। दूसरी चेष्टा में और भी छाले पड़ गयें। उनके चमड़े खुदाबख्श के चमड़े से कुछ अधिक भींगे थे। हो सकता है, इसी से उनके तलवे में अधिक छाले पड़ गये हों। वे खुदाबख्श से अधिक तेजी से चले भी थे। तलवे भींगे होने के कारण उसमें एक अंगारा सटा हुआ था। इससे उपगोलावस्था के सिद्धान्त का पूर्ण रूप से खण्डन होता है। तेज चलने से जरूर यह होता है कि पैरों पर अधिक दबाव पड़ता है। इस कारण नौसिखिए के लिए यह बात बहुत आवश्यक है कि वह चलने में जल्दी न करे। उसे अपेक्षाकृत धीरे-धीरे एक-सा शान्तभाव से चलना चाहिए। यह अनुभव से ही जाना जा सकता है कि चाल कैसी होनी चाहिए। न वह तेज होनी चाहिए और न बिलकुल धीमी। इसके पश्चात् एक दूसरे अँगरेज मौरिस चैपीन ने आग पर चलने की कोशिश की। वें दो कदम तेजी से चले। उनके तलवों में छाले पड़ गये और तीन जगहों से खून बहने लगा। वे जल्दी से गड्ढे से भाग निकले। उनकी तोल १६३ पौंड थी। आग पर इन चलनेवालों का वेग जानने के लिए चल-चित्र लिया गया था, जिससे स्पष्ट मालूम होता था कि ये दोनों अँगरेज खुदाबख्श की अपेक्षा अधिक तेज चले थे। इस प्रयोग से प्राइस ने अनुमान किया कि अंगारे की राख की ताप-चालकता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्येक बार चलने के पहले सावधानी से राख हटा ली जाती थी। प्रत्येक बार पैर आधे सेकंड से अधिक अंगारे के संसर्ग में नहीं रहा।

इसके कुछ वर्षों के बाद आग पर चलने का फिर प्रयोग हुआ। इस बार एक दूसरा मुसलमान जादूगर अहमद हुसेन था, जो अनेक बार भारत में आग पर चल चुका था। अहमद हुसेन स्वयं आग पर चलने के लिए ही तैयार न हुआ, वरन वह एक अँगरेज को भी आग पर चलाने के लिए तैयार हो गया। अँगरेज सज्जन चाहते थे कि आग पर चलने का रहस्य उन्हें मालूम हो जाय। इसके लिए विज्ञापन दिया गया। ४० अँगरेज आग पर चलने को तैयार हो गये। ये साधारण अँगरेज थे। सब किस्म के पेशेवाले थे। उनमें क्रैगी, मार्शल, बोल्ड, चेज़ने और ऐडकौक जिनकी तोल क्रमशः १४३, १४५, १२४, १७७ और १५७ पौंड थी, चुने गये। अहमद हुसेन की तोल १२६ पौंड थी। प्रोफेसर पानेट और न्यूकोम्ब ने उन लोगों के पैर धोये और सावधानी से उन्हें सुखाया। अहमद हुसेन के आदेशानुसार १२½ फुट लम्बा ४ फुट चौड़ा और १५ इंच गहरा गड्ढा खोदा गया। फिर उसमें आग सुलगा दी गई। उसके तल का तापक्रम ५७५ डिगरी शतांश व १०६७ डिगरी फारेनहाइट पाया गया। आग के अन्दर का तापक्रम ७०० डिग्री शतांश व १२९२ डिगरी फारेनहाइट था। यह तापक्रम कैम्ब्रिज की यंत्र बनानेवाली कम्पनी-द्वारा बने उग्र ताप-मापक से नापा गया था।

प्रार्थना करने के पश्चात् अहमद हुसेन आग पर चला। तीन तेज कदमों में १.३ (प्रायः सवा) सेकंड में वह पार कर गया। उसका पैर नहीं जला। अब अहमद हुसेन ने दूसरे अँगरेजों को चलने के लिए कहा। क्रैगी, मार्शल और बोल्ड एक पंक्ति में खड़े होकर अहमद हुसेन के पीछे हो लिये। इनमें क्रैगी अहमद हुसेन की पेटी पकड़े हुए था। मार्शल और बोल्ड क्रमशः क्रैगी और मार्शल के हाथ पकड़े हुए थे। वे १.५ सेकंड में गड्ढे को पार कर गये। उनके पैर बहुत कम जले। उनमें केवल एक व्यक्ति को जिसके पैर में एक छोटा अंगारा सटा हुआ था, कुछ कष्ट हुआ। इसके बाद ऐडकौक अकेले चला और १.४ सेकंड में तीन कदमों में पार कर गया। उसके बाद चेज़ने उस पर चला। उसके भी पैर बहुत कम जले। उन सबके चलने से मालूम हुआ कि यदि कदम नियमित नहीं हैं तो जलने की अधिक सम्भावना रहती है।

अब अहमद हुसेन कितनी ही दूरी तक आग पर चलने के लिए तैयार हो गया। पर जब उसे उसी आग पर आगे और पीछे चलने के लिए कहा गया तब उसने कहा कि वह आगे ही चल सकता है, पीछे नहीं। दूसरे दिन गड्ढा

२० फुट लम्बा बनाया गया। उस दिन आग के बाह्य तल का तापक्रम ७४० डिगरी शतांश व १३६४ डिगरी फारेनहाइट था। प्रार्थना करने के बाद वह चला और २.३ सेकंड में ६ कदमों में पार कर गया। इस बार उसने कहा कि उसके पैर जल गये हैं। देखने पर उसके एक पैर में पाँच छाले दिखाई दिये। दूसरा पैर लाल हो गया था। अब उसने चलना अस्वीकार कर दिया और कहा कि उसका विश्वास हट गया है।

अब ऐडकौक उस पर चार कदम चला और उसका पैर बहुत कम जला। पीछें वह रस्सी-तले का जूता पहनकर चला और ७ कदमों में पार कर गया। जूते का तला जला नहीं। अब बोल्ड और रसेल उस पर चले और उनके पैर बहुत कम जले। रस्सी-तले के जूते को पानी में भिगोकर आग के संसर्ग में रक्खा गया तब कई सेकंड के बाद उसमें से भाप निकलती देखी गई।

जब ये लोग आग पर चले थे तब पैर अँगारों में २ से ३ इंच गहरे धँस गये थे। इससे उनके पैर के ऊपर के हिस्से अंगारों से ढँक गये थे। इससे मालूम हुआ कि अंगारों की ताप-चालकता बहुत अल्प है। इसी से चमड़ों व अन्य पदार्थों पर उनसे कोई विशेष नुकसान नहीं होता, यदि संसर्ग आध सेकंड से अधिक न हो। लगातार संसर्ग भी बहुत अधिक बार न होना चाहिए।

अब अहमद हुसेन के साथ एक तीसरा प्रयोग हुआ। इसमें १२ फुट लम्बा गड्ढा बना था। उस दिन हवा बड़ी तेज चल रही थी। आग का तापक्रम ८०० डिगरी शतांश व १४७२ डिगरी फारेनहाइट था। अहमद हुसेन ४ कदमों में उसे पार कर गया और उसके पैर नहीं जले। ऐडकौक तीन कदमों में १.८ सेकंड में पार कर गया। उसके भी पैर नहीं जले। उसने कहा कि इस बार वह धीरे-धीरे स्थिरता से चला था, क्योंकि पहली बार चलने से उसे अपने ऊपर विश्वास हो गया था। खुदाबख्श, अहमद हुसेन और ऐडकौक की तौल क्रमशः १२०, १२६ और १६० पौंड थी और वे ११, १२, १२ फुट क्रमशः चार, चार और तीन कदमों में २.२, १.६ और १.८ सेकंड में पार कर गये थे। आग के तल का तापक्रम क्रमशः ८०६, १४७२, १४७२ डिगरी फारेनहाइट था। ऐडकौक के आग पर चलने का काम खुदाबख्श और अहमद हुसेन से किसी प्रकार कम न था, बल्कि खुदाबख्श से बढ़ चढ़कर ही था।

इन प्रयोगों के डाक्टर ब्राउन आग पर चलने के रहस्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त पर पहुँचे हैं:

आग पर चलने का काम कोई धोखा नहीं है। आग पर नंगे पैर चला जाता है। पैर में कुछ लगाया नहीं जाता और न उन्हें पहले से किसी प्रकार तैयार करने की आवश्यकता होती है। चूँकि आग का तल अस्थिर होता है और पैर कई इंच नीचे धँस जाता है, इससे चलने में पैर का अंगारों के संसर्ग में आना अनिवार्य है। चलने में किसी विशेष चातुर्य्य की आवश्यकता नहीं। अधिक समय तक पैर आग के संसर्ग में न रहे, इसके लिए आवश्यक है कि चलना एक-सा हो। पैर में जल का होना हानिकारक है। जल-वाष्प की उपगोलावस्थावाली व्याख्या सारहीन है। पैर के तलवे के चमड़े के मोटा होने की बिलकुल जरूरत नहीं। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि पैर का न जलना किसी दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है। आग पर चलने के बाद पैर के तापक्रम में जो कुछ कमी हुई थी वह आग पर चलने के पश्चात् घास पर चलने से हुई थी। पैर को न जलने के लिए अंगारों पर राख का होना कोई आवश्यक नहीं। बल्कि चलने के समय राख साधारणतया हटा दी जाती है, जैसा खुदाबख्श ने भी किया था। चलने के समय पैर काफी नीचे धँसकर जलते अंगारों के संसर्ग में आते हैं।

एक अभ्यासी आग पर चलनेवाले के बराबर ही एक नौसिखिया भी आग पर चल सकता है। इससे ज्ञात होता है कि आग पर चलने के लिए विश्वास व किसी विशेष मानसिक अवस्था की आवश्यकता नहीं। सूखे रस्सी-तले के जूते के न जलने से यह बात साफ सिद्ध होती है। आग पर चलने का रहस्य वस्तुतः अंगारों की अत्यल्प ताप-चालकता पर निर्भर करता है। ताँबे की ताप-चालकता अंगारे की ताप-चालकता से हजार गुना अधिक है। चमड़े व अन्य किसी पदार्थ पर तप्त पदार्थों से नुकसान पहुँच सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि तप्त पदार्थों से ठंडे पदार्थ में ताप शीघ्रता से प्रविष्ट कर सके। ताप का यह चालन शीघ्र होना चाहिए। देर से होने में ठंडे पदार्थों के तापक्रम के बढ़ने से पहले ताप निकल जाता है। इस कारण आग पर चलने के समय यद्यपि दहकते अंगारों और पैर के बीच तापक्रम का अन्तर बहुत अधिक रहता है,

पर अंगारों की ताप-चालकता बहुत अल्प होने के कारण और आग और पैर के बीच संसर्ग इतना अल्प काल के लिए होता है कि उससे ताप का चालन आग से पैर में बहुत कम होता है। जलते अंगारे और उस पर की राख बड़े कुताप चालक होते हैं। साधारणतया आग और पैर का संसर्ग आधे सेकंड से अधिक नहीं होता। इससे पैर नहीं जलता। यदि आग और पैर का संसर्ग अधिक काल के लिए हो तो पैर अवश्य ही जल सकता है और उस पर छाले पड़ सकते हैं। यह सम्भव है कि जो लोग बिना जूता पहने घूमते-फिरते हों जैसे हिन्दुस्तान के अधिकांश लोग करते हैं तो ऐसे लोगों के पैर में आग का प्रभाव और कम पड़े। यह भी सम्भव है कि सम्मोहन (हिप्नोटिज्म) के द्वारा आग पर चलने में पैरकष्ट कुछ कम हो, पर वास्तव में आग पर चलने के लिए इन बातों की आवश्यकता नहीं।

इन प्रयोगों का अन्तिम परिणाम यह निकला कि आग पर चलना एक बिलकुल भौतिक घटना है। थोड़े-काल के लिए आग और पैरों का संसर्ग, कुछ ही कदम चलना और अंगारों की अत्यल्प चालकता ही पैरों को जलने से बचाती है। कोई भी मनुष्य बिना किसी यंत्र, मंत्र और पूर्व तैयारी के बिना जले उपर्युक्त अवस्थाओं में आग पर चल सकता है।

१९३९

❀ ❀ ❀

हिन्दुस्तानी की ओट में उर्दू का प्रचार

पं० बेंकटेशनारायण तिवारी एम० ए०

भाषा किसी समुदाय विशेष की अन्तरात्मा का प्रतिबिम्ब है, उसके विकास की कहानी है। उस भाषा के शब्दों में अमर हैं हमारे सांस्कृतिक अनुभव, हमारी जातीय जय और पराजय, हमारे राष्ट्रीय करुण-क्रन्दन और आनन्दोल्लास, भारत की अभिलाषायें और आकांक्षायें। वे शब्द ही समाज और राष्ट्र के प्राण हैं। वे केवल शब्द नहीं, वे तो हमारे राष्ट्र के हृत्पिंड के टुकड़े हैं। करोड़ों भारतवासियों के रक्त से इन शब्दों का भरण-पोषण हुआ है। मातृ-भाषा के शब्दों में हृदय के स्नायुओं को झंकृत करने की अद्‌भुत शक्ति होती है। मातृ-भाषा अनन्त अमोघ शक्ति-राशि का विद्युन्मय आकर है। मंत्र-रूपी-ये शब्द हमारे पूर्वजों की अनमोल देन हैं। इसी दुर्लभ बपौती को भ्रष्ट और विकृत करने का भगीरथ प्रयत्न आरम्भ हो चुका है। इसी लिए हमें सतर्क हो जाना चाहिए।

हिन्दुस्तानी क्या है ?

महात्मा गांधी के अनुसार 'हिन्दुस्तानी' वह भाषा है जो देवनागरी और उर्दू दोनों ही लिपियों में लिखी जाय। अर्थात् इस भाषा की दो लिपियां हैं। इसके बोलने और लिखनेवालों को शब्दों के प्रयोग के विषय में पूर्ण स्वतंत्रता है। इस भाषा में किसी शब्द का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से बहिष्कार करना अनुचित होगा। कांग्रेस ने केवल भाषा का नाम बदला है, इससे अधिक कुछ नहीं किया है। इसी लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने भी अपने विगत अधिवेशनों में 'हिन्दी याने हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया, अर्थात् हिन्दुस्तानी का वह रूप जो हिन्दुस्तान की भाषा का रूप हो और जिसे हिन्दुस्तान के रहनेवाले 'हिन्दुस्तानी' कहें। हमारे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हिन्दी-भाषा की दो लिपियाँ स्वीकार कीं। महात्मा गांधी ने अभी हाल ही में यह भी सलाह दी है कि हिन्दुस्तान की जितनी प्रान्तिक आर्य-भाषायें हैं उन सब को देवनागरी-लिपि को अपनाना चाहिए, अर्थात् हिन्दी, बँगला, आसामी, उड़िया राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि हिन्दुस्तान में जितनी प्रान्तिक आर्य-भाषायें हैं उन सबकी एक ही लिपि मानी जाय; अतएव बँगला, आसामी, गुजराती, उड़िया की लिपियों के स्थान में देवनागरी-लिपि का चलन होना जरूरी है।

महात्माजी ने एक बार नहीं, अनेक बार इस बात को कहा है कि 'हिन्दी याने हिन्दुस्तानी' में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द, प्राकृत-भाषाओं के शब्द, देशज-शब्द और प्रान्तिक शब्दों के साथ साथ अरबी, फ़ारसी अँगरेजी भाषाओं से लिए गये शब्दों का प्रयोग साधु है। इसी बात पर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी अपने एक निबन्ध में जोर दिया है। लेकिन इसे हमारे मुसलमान भाई नहीं मानते।

हिन्दी उर्दू से पैदा हुई

ऊपर जो कुछ मैंने कहा है उसके समर्थन में मैं कुछ प्रमाण पाठकों के मनोरञ्जन के लिए नीचे उद्धृत करता हूँ। मेरा अनुरोध है कि पाठक इन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ें और इनके परिणामों को मनन करें। प्रमाण के लिए हमें आपको कहीं दूर नहीं जाना है। दिल्ली से एक पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है। उसका नाम है 'हिन्दुस्तानी'। इसके प्रकाशित करने का श्रेय 'मकतबा जामिया, देहली' को प्राप्त है। इसके दो संस्करण हैं—नागराक्षरों में और उर्दू में। इस पुस्तक में हिन्दुस्तानी-विषयक उन ६ व्याख्यानों का संग्रह है जो ६ विभिन्न सज्जनों ने दिल्ली के आल इंडिया रेडियो से २० फरवरी १९३९ से २५ फरवरी १९३९ की अवधि में दिये थे। व्याख्याताओं के नाम हैं—

(१) डाक्टर ताराचन्द, (२) डाक्टर मौलवी अब्दुलहक, (३) बाबू राजेन्द्रप्रसाद, (४) डाक्टर जाकिरहुसेन, (५) पंडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय और (६) मिस्टर आसफअली साहब। डाक्टर अब्दुलहक साहब, 'अन्जुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू' के संचालक हैं। उर्दू का एक बहुत बड़ा कोष भी आपने तैयार किया है। उर्दू के प्रबल प्रचारक हैं, हिन्दी के ऊपर आपकी अकृपा है। अन्जुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू के प्रतिनिधि डाक्टर अब्दुलहक को हिन्दुस्तानी पर बोलने के लिए दिल्ली के आल इंडिया रेडियो ने आमंत्रित किया। लेकिन युक्तप्राप्त में उन्हें डाक्टर ताराचन्द के अतिरिक्त और कोई विद्वान् न मिला, जो इस मसले पर बोलता। जामिया के प्रिंसिपल तो बुलाये गये, लेकिन गुरुकुल के अध्यापकों में दिल्ली के आल इंडिया रेडियोवालों को एक भी ऐसा विद्वान् न मिला जो हिन्दुस्तानी के मसले पर कुछ कह सकता। इन सज्जनों ने अपनी उपर्युक्त वक्तृताओं में जो कुछ कहा है उससे एक-एक, दो-दो वाक्य मैं यहाँ उद्धृत कर देना चाहता हूँ। सुनिए, डाक्टर ताराचन्द हिन्दुस्तानी, उर्दू और हिन्दी के विषय में क्या कहते हैं—

"फोर्ट विलियम कालिज के प्रिंसिपल जान गिलक्राइस्ट ने इस कमी को इस तरह से पूरा किया कि हिन्दुस्तान से अमीर अम्मन, अफ़सोस, हैदरी, काजिमअली जवाँ, बिला जैसे उर्दू के अच्छे अच्छे लिखनेवालों को कलकत्ते में बुलाया और उनसे नस्र में किताबें लिखवाईं। ....हिन्दुओं के लिए लल्लूजी लाल, बेनी नरायन, वग़ैरह को हुक्म मिला कि नस्र में किताबें तैयार करें। इन्हें और भी ज्यादा मुश्किलों का सामना करना पड़ा। अदब या साहित्य की भाषा ब्रज थी, लेकिन उसमें गद्य या नस्र नाम के लिए ही था। क्या करते, इन्होंने यह रास्ता निकाला कि मीर अम्मन, अफसोस वग़ैरह की जबान को अपनाया, पर इसमें से फारसी और अरबी के लफ़्ज़ छोड़ दिये और संस्कृत और हिन्दी के रख दिये.......।"

डाक्टर ताराचन्द की सम्मति में हिन्दी उर्दू का संस्कृत-मिश्रित रूपान्तर है।

डाक्टर अब्दुल हक़ कहते हैं—

"जदीद हिन्दी जिसकी अशाअत की आज-कल कोशिश की जा रही है, नये जमाने की पैदावार है। इसने फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ते में जनम लिया। दरअस्ल यह उर्दू का बच्चा है। वह इस तरह कि अरबी, फारसी के लफ्ज निकालकर इनकी जगह संस्कृत के लफ़्ज़ बिठा दिये थे।"

ऊपर के अवतरणों से दो बातें सिद्ध हुईं। डाक्टर ताराचन्द और डाक्टर अब्दुलहक़ इस बात को मानते हैं कि आज-कल की प्रचलित हिन्दी वास्तव में उर्दू का हिन्दू रूपान्तर है। दूसरी बात यह कि संस्कृत और हिन्दी के शब्दों को अरबी और फारसी के शब्दों के स्थान में बिठा देना अनुचित कर्म है, जिसको हिन्दुओं ने अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णता से प्रेरित होकर कर डाला है। इस पाप का प्रायश्चित्त कैसे हो, यह एक जटिल समस्या थी। लेकिन इसको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व और इंडियन नेशनल कांग्रेस के वर्तमान सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी ने इन शब्दों में हमें बताया है कि "जितने अरबी-फारसी के लफ्जों को हिन्दी के अच्छे लिखनेवालों

ने इस्तेमाल किया है और जितने संस्कृत के शब्दों को अच्छे उर्दू लिखनेवालों ने व्यवहार किया है उनको हिन्दुस्तानी में ले लेना चाहिए। इनके अलावा आवश्यकतानुसार और भी शब्द लिये जा सकते हैं।"

हमने ऊपर डाक्टर ताराचन्द और डाक्टर अब्दुलहक़ के रेडियो-भाषणों के जो अवतरण दिये हैं उनमें आधुनिक हिन्दी-गद्य को उर्दू-गद्य का संस्कृत-शब्दों से रंजित रूपान्तर-मात्र सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। डाक्टर अब्दुलहक़ के विषय में हमें कुछ नहीं कहना। विद्वान् होते हुए भी वे पक्षपाती हैं। अतएव उनमें ज्ञान और विवेक की संकीर्णता स्वाभाविक है। लेकिन डाक्टर ताराचन्द न केवल बहुश्रुत पंडित हैं, बल्कि हिन्दी और उर्दू के निष्पक्ष समालोचक के पद को जनता की निगाहों में बहुत दिनों से सुशोभित कर रहे है। ऐसे पढ़े-लिखे आदमी का यह कहना कि लल्लूजी लाल आदि ने मीर अम्मन, अफ़सोस वगैरह की ज़बान को अपनाया, पर इसमें से फारसी, अरबी के लफ्ज़ छाँट दिये और संस्कृत और हिन्दी के शब्द रखकर एक नई ज़बान रंगमंच पर खड़ी कर दी। क्या डाक्टर ताराचन्द की राय में हिन्दी-उर्दू में केवल इतना ही भेद है कि हिन्दीवाले हिन्दी और संस्कृत के शब्दों को और उर्दूवाले उनके स्थान में फारसी और अरबी के शब्दों को तरजीह देते हैं? यदि उनकी यह राय है तो मुझे कहना पड़ेगा कि उन्हें हिन्दी-उर्दू की भाषाओं के बुनियादी भेदों का कुछ भी बोध नहीं। जो बात डाक्टर ताराचन्द ने कही उसे यदि कोई नासमझ, तंगदिल मौलवी कहता तो उसे मैं अनपढ़ गँवार की बात समझ हँसकर टाल देता। डाक्टर ताराचन्द तो हिन्दुस्तानी एकेडेमी के बहुत दिन से मंत्री हैं। इसी एकेडेमी के तत्वावधान में डाक्टर ताराचन्द ही ने दिवंगत श्री पद्मसिंह शर्मा का 'हिंदी, उर्दू और हिन्दुस्तानी" पर एक व्याख्यान कराया था। उस व्याख्यान ही को यदि डाक्टर साहब फिर से एक बार पढ़ने की कृपा करते तो ऐसी भ्रामक और निस्सार बात की जिम्मेदारी उठाने की नौबत न आती। डाक्टर ग्रियर्सन के भारतीय भाषाओं सम्बन्धी वृहद् ग्रंथ का अवलोकन अब भी कर लें तो उन्हें पता लग जायगा कि हिन्दी और उर्दू में क्या वास्तविक विभेद है। उर्दू-भाषा शब्द-योजना, व्याकरण-सम्बन्धी नियमों, विषय और अलंकार की दृष्टि से शामी भाषाओं की अनुवर्त्तिनी है। उसकी प्रेरणा परदेशी है, स्वदेशी नहीं है। वह तो परमुखापेक्षिणी है। उसकी वस्तुस्थिति में हिन्दुस्तानीपन का नामोनिशान नहीं है। विषय-चयन में भारतीयता से वह कोसों दूर भागती है। क्या लल्लूजी लाल, सदल मिश्र आदि ने अमीर अम्मन की इन सब बातों में नकल की है? एक के कण कण से विदेशीपन टपकता है। दूसरा रग रग में भारतीय है। लल्लू लालजी की वाक्य-रचना से इन्शा की 'रानी केतकी' की वाक्य-रचना का मिलान कीजिए और आपको दोनों में जो व्यापक अन्तर है उसका सहज ही बोध हो जायगा। लेकिन डाक्टर ताराचन्द को इन बातों की क्या परवा!

लल्लूजी लाल आदि ने जो काम किया वह यह था कि उन्होंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी गद्य के, विदेशी प्रभावों के कारण, विकृत रूप को शोधकर भारतीय आर्य-भाषाओं की पंक्ति में ला बिठाया। उन्होंने स्वदेशी पद्धति का अनुसरण किया। मीर अम्मन वगैरह और उनके अनुयायियों ने उसको विदेशी अर्थात् शामी भाषाओं के ढाँचे में ढालने की अनुचित चेष्टा की। लेकिन डॉक्टर ताराचन्द से बहस करना समय को नष्ट करना है। हाँ, डाक्टर साहब यदि यह समझते हैं कि उनकी अनर्गल किंवदन्तियों को लोग ऐतिहासिक सत्य मान लेंगे तो यह उनकी भारी भूल होगी। हाँ, 'उर्दू-दिवस' के जलसों में लोग भले ही उनकी पीठ ठोंक दें। अगर इससे उन्हें सन्तोष है तो मैं उन्हें हताश कदापि नहीं करना चाहता। मेरी निश्चित सम्मति यह है कि लल्लूजी लाल ने मीर अम्मन का अनुसरण नहीं किया। उन्होंने अनुसरण किया तो भारतीय आर्य-भाषाओं की परम्परा का—उस परम्परा का जिसके विरोध में मीर अम्मन वगैरह ने बग़ावत की और शामी भाषाओं की अनुवर्त्तिनी भाषा के फैलाने का देश में असफल प्रयत्न किया।

हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू का प्रचार

जैसा पाठकों को मालूम है, डाक्टर अब्दुलहक़ आदि की राय में हिन्दुस्तानी सहल उर्दू है और सहल उर्दू हिन्दुस्तानी, जिसका अर्थ यह है कि आर्य-भाषा के नियमों के आधार पर एक नई ज़बान तैयार की जाय, जिसमें से हिन्दी और संस्कृत के प्रचलित शब्द निकाल लिये जायँ और उनके स्थान में फारसी और अरबी के शब्दों का ज़ोरों से चलन किया जाय। इसी का नाम

हिन्दुस्तानी-जबान है। हिन्दी और संस्कृत के शब्दों से इतनी घृणा क्यों? उनको निकाल फेंकने के लिए इतना उतावलापन क्यों? इसका कारण है। अभी तक तो हमसे यह कहा जाता था कि फारसी और अरबी के शब्दों के स्थान में यदि हिन्दी और संस्कृत के शब्द इस्तेमाल किये जाते हैं तो केवल इस गरज से कि हिन्दुस्तानी से मुस्लिम कल्चर और इस्लामी असरात और ज़ज्बात का अन्त कर दिया जाय। डाक्टर अब्दुलहक़ साहब ने एक नई वज़ह बताई है। आप फ़रमाते हैं—

"अजीब बात है कि इस संस्कृत मिली जबान ही की वजह से जुनूबी हिन्दवाले हिन्दी या हिन्दुस्तानी की सख्त मुखालिफत कर रहे हैं। उनको यह बदगुमानी है कि हिन्दी के हीले से संस्कृत जबान फैलाने की कोशिश की जा रही है और हम उनकी जबान और कल्चर को मिटाना चाहते हैं।" इसी लिए शायद दक्खिन हैदराबाद के रहनेवाले डाक्टर अब्दुलहक जो हिन्दुस्तानी जबान के इस वक्त बड़े हिमायती हैं, 'दक्खिनी हिन्द' को 'जुनूबी हिन्द' कहते हैं ताकि उनके सम्बन्ध में मदरासियों को यह बदगुमानी न हो जाय कि डाक्टर साहब भी उनकी जबान और कल्चर को मिटाना चाहते हैं! डाक्टर साहब सहल उर्दू के हिमायती हैं। अपनी तकरीर में उन्होंने खुद कहा है कि जिस जबान में वे बोले थे वही हिन्दुस्तानी जबान है। इसी लिए शायद उन्होंने 'दक्खिनी हिन्द' को 'जुनूबी हिन्द' कहा, क्योंकि आपकी राय में इस मुल्क में 'दक्खिन' के मुकाबिले में 'जुनूब' का कई हजारगुना अधिक प्रचार है!

नई हिन्दुस्तानी के कुछ नमूने

बिहार-प्रान्त में डाक्टर अब्दुलहक के बताये हुए मार्ग पर हिन्दुस्तानी जबान की लढ़िया ढकेली जा रही है। वहाँ इसी नई जबान में 'महमूद सीरीज' में 'राजेन्द्र रीडर्स' प्रकाशित हुई हैं।'होनहार' नाम का एक मासिक-पत्र भी प्रकाशित हो रहा है। प्रौढ़ शिक्षा-प्रचार का जिस तरह का प्रयत्न हमारे सूबे में सरकार की ओर से किया जा रहा है, वैसे ही बिहार में भी वहाँ की सरकार इस समय कर रही है। बिहार में 'सयानों' के पढ़ने के लिए कुछ चार्ट तैयार किये गये हैं। मैं नीचे इन्हीं चार्टों, पोथियों और 'होनहार' से उर्दू उर्फ हिन्दुस्तानी जबान के कुछ नमूने देता हूँ ताकि पाठकों को मालूम हो जाय कि हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू के फैलाने का कितना संगठित रूप से प्रयत्न किया जा रहा है।

आइए, पहले आपको 'सयानों' के चार्टों से पढ़ायें—

रशीद ने अपने भाई को खत लिखा। उसने उस खत में अपने तोते का हाल लिखा था। और यह भी बताया था कि वह तोता उसको किस तरह मिला। तोते के लिये कर्ज लेकर उसे नैपाल की तरफ जाना पड़ा था। लौटकर उसने कर्ज का रुपया दे दिया। खास खास तोते आदमी की तरह बोल सकते हैं। तोते का नज़र बदलना मशहूर है। लेकिन उसको कैद कर रखना एक बड़ा जुल्म है। उनको पकड़नेवाले एक खास जात के होते हैं। यही काम उनकी रोजी का ज़रिया है। मगर यह काम उनकी रोजी के वास्ते ज़रूरी नहीं कहा जा सकता। किसी पर ज़ुल्म करना ठीक नहीं। नैपाल की तरफ अजदहा भी पाया जाता है। अज़दहे को लोग अजगर भी कहते हैं। माननीय डाक्टर सैयद महमूद बिहार-प्रान्त के शिक्षा-मंत्री हैं। आप उर्दू उर्फ़ हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचार में दिलोजान से लगे हुए हैं। 'सयानों की पोथी' के कवर पर आपका एक सन्देश है। उसे कृपया देखिए—

"पैग़ाम"

"अपने अनपढ़े? भाइयों को कम से कम वक्त में पढ़ा-लिखा कर उनकी ज़िन्दगी ख़ुशगवार बनाना और उन्हें देश और समाज के लिए मुफीद बनाना हमारा क़ौमी फर्ज है।"

डाक्टर सैयद महमूद ने 'होनहार' अखबार का स्वागत करते हुए लिखा है—

"मेरी यह ख़्वाहिश बहुत दिन से थी कि देश में ऐसे अदब का प्रचार हो जो कि दोनों ही हरफों में हो, मगर ज़बान एक ही और आसान हो। श्री रामलोचन शरण और मिस्टर अनीसुर्रहमान ने 'होनहार' निकाल कर बड़ी कमी को पूरा किया है। मैं उन लोगों की इस कोशिश पर मुबारकबाद देता हूँ।"

'होनहार' की भी 'नौरतन चटनी' का कुछ मज़ा आप लेना चाहेंगे। लीजिए, हाजिर है—

"ओ देश से आने वाले बता
क्या अब भी महकते मन्दिर से नाक़ूस (?) की आवाज़
आती है,

क्या अब भी मुक़द्दस मस्जिद पर मस्ताना अज़ान थर्राती है ?
और शाम के रंगीन सायों पर, एक अजमत-सी छा
जाती है।"

नई हिन्दुस्तानी के काफी नमूने दिये जा चुके। कहते हैं कि जिस जबान के ये नमूने हैं वही हिन्दुस्तानी-भाषा है। उदाहरणों से यह बात साफ प्रकट होती है कि हिन्दुस्तानी वास्तव में उर्दू है। आचार्य नरेन्द्रदेव इसी हिन्दुस्तानी के हिमायती हैं। 'होनहार' का सभी साथ देते हैं। जैसी बहै बयारि पीठ तब तैसी दीजै। इसी लिए संस्कृत, पाली और हिन्दी के उद्‌भट विद्वान् आचार्य का लोग अनुकरण करने लगें तो हिन्दी का दुर्भाग्य है। संस्कृत और हिन्दी के शब्दों का इस निर्दयता के साथ बहिष्कार खटकता है। अजगर के बजाय 'अजदहा' और शंख के स्थान में 'नाकूस' हमारे बच्चों को पढ़ाया जाय और यह कहकर पढ़ाया जाय कि 'अजदहा' और 'नाकूस' को ज्यादा लोग समझते और बोलते हैं तो हमें अपनी नादानी और नासमझी पर तरस आता है और तरस इस बात पर भी आता है कि सयाने अपने को इतना बड़ा सयाना समझते हैं और दूसरों को इतना मूर्ख कि उनकी समझ में उनके काइयाँपन को कोई ताड़ न पायेगा।

साम्प्रदायिक कठमुल्ले दिन-दहाड़े हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू का प्रचार कर रहे हैं। हिन्दी और संस्कृत के शब्दों को चुन चुनकर पाठशालाओं और मदरसों से निकालने की कोशिशों में लगे हुए हैं। मैं उर्दू का विरोधी नहीं। फारसी और अरबी के शब्दों से मुझे कोई बैर नहीं। लेकिन उर्दू-जबान के पीछे जो प्रेरणा है, उसका जो दृष्टिकोण है, उसकी विचार-शैली, उसकी बनावट और सजावट, उसकी रूप-रेखा——इन सब बातों में वह अभारतीय है, राष्ट्रीय भाव की संहारिणी और हमारे जातीय उत्थान की जड़ खोदनेवाली है। संकीर्णता में उसका जन्म हुआ, संकीर्णता ही का वह सन्देश सुनाती है। इस्लाम का उससे कोई सम्बन्ध नहीं, इस्लामी कल्चर की वह साकार मूर्त्ति नहीं है। ईरान के पतन-काल की विषाक्त सभ्यता और संस्कृति का घातक सन्देश लेकर वह हमारे पास आई है। ऐसी भाषा और ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन जो देना चाहते हों वे दें, लेकिन उनका ऐसा कहना और करना राष्ट्रीयता के नाम पर, निहायत बेजा हरकत है। किसी भाषा के शब्दों को अपना बना लेना कोई अनुचित काम नहीं है। प्रत्येक सजीव भाषा हर समय ऐसा ही किया करती है। उन्हें अपनाना एक बात है, लेकिन अपने शब्दों को त्यागकर दूसरों का आश्रित होना किसी सजीव भाषा का लक्षण नहीं है। लेकिन जिनकी मनोवृत्तियाँ संकीर्ण हैं, जो राष्ट्रीयता के नाम की रात-दिन रट लगाया करते हैं, पर जिनमें राष्ट्रीयता के भाव का सर्वथा अभाव है वे ही इस तरह की साहित्यिक तानाशाही का समर्थन करेंगे। हमारा और आपका मार्ग तो साफ है। हिन्दी ही हिन्दुस्तानी हो सकती है। वही हिन्दुस्तानी है। उसका शब्द-भाण्डार न संकुचित है और न अपूर्ण। वह तो अजगर की तरह सब भाषाओं के शब्दों को पचाने की क्षमता रखती है और जिस उदार नीति से अभी तक उसका भरण-पोषण हुआ है उसी विशाल हृदयता से उसके सेवक भविष्य में भी उसको सँवारने-सुधारने में डटे रहेंगे तो विजय उनकी है, भविष्य उनका है और उन्हीं का सबसे अधिक यश होगा। भारत की विभिन्न जातियों को भाषा के एक अटूट बन्धन से बाँधकर एक राष्ट्रीय जाति में परिणत करने का और उसके विशाल पराक्रम, दुर्जेय शक्ति, महत्त्वाकांक्षाओं, सूक्ष्मतम सुकुमार से सुकुमार भावनाओं और धारणाओं को व्यक्त और मुखरित करने का सेहरा भी उसी के माथे पर बँधेगा और इस पुण्य श्रेय के भागी वे सब असंख्य भारतवासी होंगे जो सुख और दुख में, संकट-विपत्ति में, धूप और बरसात में अपनी मातृ-भाषा की आराधना में निरत रहे हैं।

१९३९

❀ ❀ ❀

नीलाबम्र से नक्षत्र-वर्षण

पं० सूर्यनारायण व्यास

न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गईं, गगनमण्डल अपने चमत्कारों से दुनिया को आश्चर्य-चकित करता रहा है। लक्षावधि तारागण विविध रूपों में नीली चादर पर विचित्र चित्र बनाकर प्रकृति की अनुपम छटा बतलाते रहे हैं। कभी-कभी हम उन तारों को पुंजी-भूत देखते हैं, कभी उनकी रंग-बिरंगी झिलमिल की इधर-उधर दौड़-धूप, कभी लम्बी तेजोमयी नीहारिका के रूप में आकाश की सुषमा का बढ़ाना, कभी लम्बी ज्वाल-माला का धूमिल पुच्छ बढ़ाकर भयभीत करना और विधि-वैचित्र्य का दृश्य उपस्थित करना एवं टूटकर भू-मण्डल पर चमकती हुई शिखा के साथ लटकते आना देखते हैं। यह उस विश्व-नियंता का विस्मयकारी नाटक है, जिसे समझने का युगों से लक्षाब्दियों से मानव-मस्तिष्क मान करता आया है। किन्तु वास्तविक तथ्य तक न पहुँचकर केवल विस्मय-विमुग्ध बनकर कल्पनालोक में विहार करता रहा है। पुरातन दिव्यद्रष्टा आचार्य-प्रवरों ने 'नलिकावेधादि' सरलतम सुलभ साधनों से सहस्रशः तारागणों को पहचानकर उनसे निकट सम्बन्ध स्थापित किया है और उनमें के कुछ ज्योतिष्कारों ने ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधि पर अधिकार-पूर्ण ज्ञान स्थिर कर उन पर काबू भी पा लिया था। उनके महत्त्व की, भूमण्डलस्थ वस्तुओं तथा प्राणियों पर उनके द्वारा पड़नेवाले हानि-लाभकर विशिष्ट परिणामों की थाह भी उन्होंने पा ली थी। फिर भी गगनचारी ऐसे अनेक उडुगण हैं कि जिनका ज्ञान सैकड़ों सदियों पूर्व न तो उन्हें, न इस कहे जानेवाले 'विज्ञान-युग' में आज २०वीं सदी में भी हुआ है, न आगे ही होता दिखाई देता है। मुझको सर्वदा इस ओर जिज्ञासा रही है, समय-समय पर कई नये-नये तारों की खोज हुई है, उनके विशिष्ट प्रभावों का भी अनुभव प्राप्त किया गया है। कुछ प्रभावोत्पादक तारों को कुछ निरीक्षकों ने पहचाना है। किन्तु आज भी प्रकृति की बिखेरी हुई जीवन-रत्न-राशि में से कौन कह सकता है कि सब या अधिकांश बहु-मूल्य रत्न पूरी-तरह पहचान ही लिये गये हैं! और हैं भी ऐसे कितने लोग जिनकी सूक्ष्म निरीक्षक आँखों ने आकाश के घनीभूत तारक-पुंजों में से विशेषता रखनेवाले ज्वलन्त नक्षत्रों का परिचय पा लिया हो? आकाश में तारे हैं, और भी कुछ हैं। यह आश्चर्य से हम लोग प्रायः देखा करते हैं, कभी उपल-वृष्टि, कभी हिम-वर्षण, कभी शिला, कभी रक्त, कभी लोहखण्ड और कभी क्या-क्या? इस तरह भू-खण्ड पर आई हुई वस्तुओं से हम अनुभव करते हैं कि अवश्य ही उस लोक में भी आश्चर्यकारक साहित्य संगृहीत हैं। प्रकृति का भी अद्भुत 'म्यूजियम' बना हुआ है, जिसका कोई-कोई नमूना कभी-कभी हमारा विस्मय बढ़ाने के लिए, कुतूहल के लिए भेज दिया जाता है। यह बहुत कम लोग जानते होंगे कि जिस तरह जल, हिम, शिला, रक्त, लोह आदि की वृष्टि होती है, उसी तरह निरन्तर तारों की भी वृष्टि होती है। एक-दो या पाँच-सात तारों को कभी-कभी हम टूटते, गिरते देखा करते हैं। परन्तु सामूहिक रूप से जल-वर्षण की तरह 'तारक-वृष्टि' भी होती है, यह ज़रा नवीन-सी बात मालूम होगी। किन्तु यह नवीन बात नहीं है, सृष्टि के उद्भवकाल से ही खगोल मानव-जाति को चकित किये हुए है। हाँ, कभी कभी वह हमें सर्वथा दिङ्मूढ़ बनाकर अवश्य छोड़ देता है। आकाश में चंचलता से चमकनेवाली सौदामिनी, मेघमण्डल का घन-गम्भीर गर्जन, तारों के घर्षण से झरनेवाले अंगारे, पत्थर और विचित्र रत्नों जैसी दीप्तिमान वस्तुओं का वर्षण आश्चर्य-सागर में हमें डुबो देता है। कुछ लोग इनको केवल वैज्ञानिक विवेचन के दृष्टिकोण से देखते हैं और कुछ लोग इनमें 'भावी' सूचना का सन्देश ढूँढ़ते हैं, पर सर्वसाधारण लोग तो प्रायः इनमें प्रकृति का प्रकोप ही मानते हैं। बहुत बार देखा गया है कि आकाश से बरसे हुए पत्थरों या लोह-खण्डों को लोगों ने पूजन-गृह में स्थान दिया है। भारत में ही नहीं, योरप और लघु एशिया माईनर के सुसंस्कृत लोग भी ऐसे साहित्य को मन्दिरों में पूज्यभाव से रखते हैं, और वैज्ञानिक लोग तो अभी अन्वेषण में लगे ही हुए हैं; कि इनमें कौन-सा तत्त्व, और कौन-सा रहस्य निहित है।

जिन्होंने लन्दन के 'नेचरल हिस्ट्री-म्यूजियम' के दर्शन किये हैं, वे प्रकृति की इन विचित्र रचनाओं को

देखकर विस्मित हुए बिना नहीं रहे होंगे। सन् १९३७ के ऑक्टोबर में जब मैं लन्दन पहुँचा तब गगन-मण्डल के इस रत्न-समूह को देखने के लिए बहुत उत्सुक था। लगातार दो रोज ६-६ घंटे तक मैंने प्रकृति के इस सुन्दर म्यूजियम के विविध रूपों का निरीक्षण किया। आकाशीय साहित्य में सैकड़ों, सहस्रों तारों के ढेर, लौह, शिलायें और जन्तु तथा अनेक विचित्र प्रकार की वस्तुओं को देखा। छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े तारों को देखा। उनमें कोई-कोई टूट गये हैं, कोई पिचक गये हैं, किसी में अजीब चमक है, तो कोई जमीन पर आकर अनार की तरह फूट गया है और अन्दर से हीरे से भी अधिक कान्तिमान् तीखे, शुभ्रतम गाढ़े काँच का-सा साहित्य प्रकाशित होता है। हाथ से छूने पर उनकी तीक्ष्णता इतनी मालूम होती है कि भूल से हाथ पड़ जाये तो वह तुरन्त रक्त-रंजित कर दे। कुछ ऐसे सजीव कछुए जैसे पदार्थ-से तारक-पिण्ड वहाँ दिखाई दिये जो क्रमशः सिकुड़ते जा रहे हैं, अन्दर-ही-अन्दर घनत्व लोहे हैं, मानो उनमें जीवन-तत्त्व का क्रमिक ह्रास हो रहा है। किसी में लोह या रजत, हेम, तथा कांस्य-जैसी चमक है, और भारी भरकम! भारतवर्ष की वस्तुएँ भी जो यहाँ कभी आकाश से नीचे आ गई हैं इस म्यूजियम में सुरक्षित हैं। बड़ी-बड़ी वजनी शिलायें वहाँ रक्खी हैं जो प्रस्तर या न जाने किस वस्तु से निर्मित हैं, इसका समझना कठिन है। अनेक विचित्र, चमकीली, मैली, काली या ज्योतित, धूमिल ऐंसी-ऐसी वस्तुएँ हैं कि उनके अन्दर किन-किन तत्त्वों का समावेश है, यह सब जानना साध्य नहीं है। ये वस्तुएँ उस आकाशीय म्यूजियम से मानो भू-मण्डलीय म्यूजियम को भेंट-रूप में आई हैं!

कुछ समय पूर्व गगन-मण्डलीय चमत्कृतिपूर्ण विचित्रताओं के अभ्यास के लिए एक आयोजना की गई थी।

अमेरिका के नेचरल हिस्ट्री संग्रहालय के क्यूरेटर मिस्टर निनिगर ने अपने खगोल-विषयक साहित्य के अनुसन्धान पर वहाँ प्रकाश भी डाला था। यद्यपि अभी तक इसका क्रमबद्ध इतिहास नहीं है कि किस-किस समय आकाश से कौन-कौन-सी वस्तुएँ, कहाँ-कहाँ गिरी हैं और ऐसा कब-कब हो सकता है, इसके लिए कोई नियमित समय भी है या इनका यदा-कदा ही आवागमन होता रहता है, इत्यादि। म्यूजियम के साहित्य और नोटों के आधार पर ऐसा विदित होता है कि— सन् १८३३ के नवम्बर मास की १३ या १४ तारीखों की रात्रि में अधिकांश भू-भाग पर आकाश से प्रस्तर-वर्षण हुआ। प्रकाशमान् तारिकाओं के झुण्ड के झुण्ड जमीन पर गिरते हुए दिखाई दिये। उनमें से कई तारे इतने ज्योतिर्मय थे कि शुक्र ग्रह की तरह मालूम होते थे।

इसके बाद ठीक १८६६ ईसवी के नवम्बर में ही ठीक ३३ वर्ष के अनन्तर असाधारण भयजनक तूफान आकाश में उठ खड़ा हुआ था और तारक-वर्षण हुआ था। फिर तो लगातार प्रति ३३वें वर्ष में यही क्रम देखा गया। सम्भव है, इसके पूर्व भी यह क्रम रहा हो, पर इतिहासज्ञों की उदासी से कोई पता नहीं चलाया गया। परन्तु यह सम्भव है कि जिस गणना के हर ३३ वें वर्ष का क्रम प्रकट किया है वह इसके पूर्व भी यथावत् रही हो। सन् १८९९ अथवा १९०० में फिर एक ऐसा ही उल्कापात हुआ था। खगोलज्ञ इससे निराश हो गये थे कि पत्थर बरसे होंगे, पर यह तारक-वृष्टि ही थी। बाद में सन् १९३२-३३ में भी आशा थी, पर यह प्रकृति-गणना-क्रम कुछ पलट गया मालूम हुआ। आकाशीय गति-विधि की दृष्टि से सन् १९३४ में भी एक बार सम्भावना की जाती थी। वह भी व्यर्थ हुई।

जिस उल्कापात की अपेक्षा की जाती थी वह नहीं हुआ। जो पत्थरों का समूह आकाश में जमा हो जाता है वह उल्का के साथ अशनिपात के रूप में बरस जाता है। गुरुत्वाकर्षण के कारण ये जमीन पर आ जाती हैं, वायु-वेग से उष्णता पाकर उसका जमाव फट पड़ता है। तूफान के कारण भी प्रायः यही होता है। ग्रह-मण्डल के प्रबल आकर्षण से खिंचनेवाले तारे भी अपनी पंक्ति से विलग हो जा पड़ते हैं। ये तारे प्रायः नवम्बर के मध्य से दिसम्बर के प्रथम सप्ताह तक ही अधिकतर गिरते रहे हैं। टूट कर गिरता हुआ तारा या धूम-केतु (पुच्छल-तारा) जब दिखाई पड़ता है, तब लोगों में अनिष्ट की आशंका हो जाती है। सप्तम एडवर्ड के अवसान के समय विशालाकृति धूम-केतु उदित हुआ था। आरम्भ में वह उत्तर रात्रि में ज्वलंत मानव-शिशु की आकृति का मस्तकहीन दिखाई देता रहा। बाद को पूर्व-रात्रि में प्रतिदिन एक अर्से तक धूमिल पुच्छ के साथ उदित हुआ। वह सम्भवतः १०० मील की लम्बी पूंछ लिये गगन-मण्डल को घेरे रहा है।

इसमें लौह-तत्त्व का भाग ज्यादा रहा है, अतएव यह भयानक माना जाता था। इसी प्रकार का लौह-तत्त्व ज्वालामुखी पर्वतों के अन्तराल में खूब जमा रहता है। ओहिया और अटलांटिक सागर से दूर प्रदेश में भी यह लौहतत्त्व काफी मात्रा में जमा है, इससे मालूम होता है कि कभी सारी पृथ्वी को इन बहु-व्याप्त तत्त्वों ने कम्पित कर डाला होगा।

सन् १९३२ में आकल होमा युनिवर्सिटी के प्रोफेसर एम० ए० मेलटन ने और विलियम स्क्रीपर ने इस प्रदेश में विमान-द्वारा भ्रमण किया था, फोटो भी खींचे थे। इसके बाद फिर ये लोग इस प्रदेश में गये। सूक्ष्म निरीक्षण करने पर इस परिणाम पर पहुँचे कि ज्वालामुखी पर्वतीय निम्नभाग में 'लौह' का विपुल समूह विस्तृत है, और यह वही लौह है जो आकाश से प्रस्तर या उल्का के रूप में बरसा था। छोटे-छोटे पत्थर पृथ्वी के स्तर में जमा होते गये निरन्तर वर्षा होती गई, और इनका विस्तृत रूप बन गया। इसी प्रकार का प्रस्तर-समूह अरजेन्टाईन, मध्य-आस्ट्रेलिया, तथा बाल्टिक के द्वीपों में भी प्राप्त होता है। इनमें १२ तारे तो इसी साल के गिरे हुए प्राप्त हुए हैं। एक तारा ओरसा, दूसरा वेन्सलो के निकट आरीजोनों में पड़ा मिला था। तीसरा उत्तर-मध्य साइबेरिया में टूटा था, जो सन् १९०८ में गिरा था। इनकी वृष्टि का स्थान सात सौ मील की परिधि में ही था।

इसकी कल्पना की जा सकती है कि ज्वालामुखी के नीचें कितने बड़े-बड़े पुच्छल तारे टूटकर गिरे होंगे? पृथ्वी के सम-भू-भाग पर पौन हिस्सा सागर है। कौन जानता है कि इस विभाग में कितने तारे ऐसे टूटकर अन्तराल में छिपे पड़े हैं? प्रोफेसर निनिगर ने अपने संग्रहालय में ऐसे लगभग १० हजार तारों को खोजकर संग्रह कर रक्खा है। ये किन-किन तत्त्वों के मिश्रण से निर्मित हैं, यह अनुसन्धान का विषय है। किन्तु लन्दन-म्यूजियम में रक्खे हुए तारे बड़े वजनी हैं। छोटे-छोटे छिद्र भी इनमें हैं, जैसे ज्वालामुखी से निर्गत द्रव पदार्थ सूखकर बन जाता है। ताजे पड़े हुए तारे थोड़े भूरे रंग को लिये हुए हैं, और थोड़ी सफेदी भी लक्षित होती है। कुछ सिमेंट के रंग के कालापन लिये हुए हैं। कुछ बाहर-भीतर से काले हैं। इन्हीं कालों का हाल यह है कि कुछ समय बाद जैसे जीवन-तत्त्व कम होकर ये भूरे बनते जा रहे हैं, उनके किनारे पिचकते जाते हैं, पर ये द्रव पदार्थ विसर्जन करते दिखाई नहीं देते, शुष्कता होती जाती है। अमेरिका के कुछ विभाग में तो ४-४ मील के अन्दर अनेक ऐसे तारे पृथ्वी पर प्राप्त हो जाते हैं, जिनको पाना विशेष श्रम-साध्य नहीं है।

१९४०

❀ ❀ ❀

हिन्दू-संस्कृति की रक्षा

श्री इन्द्र विद्या-वाचस्पति

'संस्कृति' का अभिप्राय

किसी जाति के धर्म, साहित्य, रीतिरवाज और आदर्श के सम्मुच्चय का नाम आजकल की भाषा में 'संस्कृति' है? संस्कृति-शब्द का प्रयोग अँगरेजी-शब्द 'कल्चर' के स्थान पर होने लगा है। अनुवाद शाब्दिक तो नहीं है, परन्तु अभिप्राय दोनों शब्दों का एक ही है। आलंकारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि जाति शरीर है तो संस्कृति उसकी आत्मा है। जीवित शरीर में आत्मा रहेगी। जीवित जाति की भी संस्कृति होनी ही चाहिए। यदि कोई विशेष संस्कृति न हो, तो समझ लो कि या तो वह जाति केवल एक भ्रान्ति है अथवा लाश है।

क्या हिन्दू-संस्कृति नाम की कोई वस्तु है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक और प्रश्न का उत्तर आवश्यक है। यह हिन्दू नाम की कोई जाति है? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में है तो संस्कृति सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर भी 'हाँ' में ही होगा, परन्तु यदि हिन्दू-जाति

नाम की कोई वस्तु नहीं तो हिन्दू-संस्कृति को भी आकाश-कुसुम की तरह अर्थ से शून्य केवल एक समस्त शब्द ही समझना चाहिए।

हिन्दू संस्कृति का अस्तित्व

क्या हिन्दू नाम की कोई जाति है ? इस प्रश्न का उत्तर असन्दिग्ध रूप से 'हाँ' है। आप उसे पसन्द करें या न करें। आप हिन्दूकुल में पैदा होकर लज्जित हों या अभिमान करें। आपको यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दू नाम की एक जाति का अस्तित्व है और उसके निवासस्थान का नाम ही हिन्दूस्थान है, हिन्दू-जाति कोई आज की कल्पना नहीं है। इसका बीजारोप कई युग पहले हुआ था। वैदिक समय से लेकर आज तक इसके नाम और रूप बदलते रहे हैं, परन्तु इसका अस्तित्व कायम रहा है; सम्पत्ति में और विपत्ति में, स्वाधीनता में और पराधीनता में—किसी दशा में यह रही हो, परन्तु संसार की सब जातियों से पृथक् इसकी सत्ता आज तक बनी रही है। भारत में अनेक जातियों के आक्रमण हुए, यूनानी, हूण, शक, सीथियन, मुसलमान और अँगरेज—एक के पीछे दूसरी जाति ने आकर भारत पर राजनैतिक प्रभुत्व जमाया, परन्तु जैसे सदियों के भयंकर विदेशी आक्रमण अँगरेज-जाति की हस्ती को न मिटा सके, उसी प्रकार उपर्युक्त सब राजनैतिक आक्रमण भी हिन्दू जाति की सत्ता को नहीं मिटा सके।

जिन आक्रमणों के सामने कई जातियों ने पूरा आत्म-समर्पण कर दिया उनके आगे सिर झुकाने पर मजबूर होकर भी हिन्दू-जाति ने अपनी सत्ता को कायम रक्खा। इसका कोई विशेष कारण अवश्य होना चाहिए। वह कारण यह है कि जिस नींव पर हिन्दू-जाति की दीवार खड़ी है वह बहुत मजबूत मसाले से बनी है, और बहुत गहरी है। हिन्दू-संस्कृति ही वह नींव है।

संस्कृति के चार अंग हैं—(१) धर्म, (२) साहित्य, (३) रीति-रवाज और (४) भाषा। हिन्दू-संस्कृति के मूलाधार धर्म और साहित्य इतने पुराने हैं जितना पुराना मानवीय ज्ञान। वर्तमान हिन्दू-धर्म और साहित्य कितना ही विकृत हो, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसका मूल बहुत गहरा है, वह ऐतिहासिक काल से भी बहुत प्राचीन वैदिक काल में गड़ा हुआ है। हिन्दू-जाति का साहित्य इस समय अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटा हुआ होने पर भी एक ही तने से फूटा है और एक ही मूल पर आश्रित है। वह मूल भी आपको वैदिक काल में गड़ा हुआ मिलेगा, और क्योंकि रीति-रवाज का उद्भव-स्थान धर्म और भाषा का उद्भव स्थान साहित्य है, इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से परीक्षा करने पर मालूम होगा कि हिन्दू-जाति की वर्तमान संस्कृति अधिकांश में प्राचीनतम वैदिक संस्कृति पर आश्रित है, और उसी का रूपान्तर है।

हिन्दू-संस्कृति पर बाहर के असर

आर्य-हिन्दू-संस्कृति का उद्भवस्थान वैदिक समय की कन्दराओं में है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि बीती हुई सैकड़ों शताब्दियों में वह प्रवाह अछूता ही चलता रहा है। आर्य-जाति पृथ्वी के अनेक भागों पर फैली हुई दिखाई देती है। उसकी जो धारा आज के हिन्दुस्तान कहलानेवाले देश में बह रही है उसे हम आर्य-जाति का हिन्दू-विभाग और उस जाति की संस्कृति को आर्य-हिन्दू-संस्कृति या केवल हिन्दू-संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। वह संस्कृति अपने जन्म-काल से आज तक बहुत से नदी-नालों से प्रभावित होती रही है। उनमें से कुछ एक का निर्देश हम नीचे करते हैं—

(१) अति प्राचीन भारत में विद्यमान अनार्य जातियों की संस्कृति।

(२) यूनानी यवनों के आचार-व्यवहार और विचार।

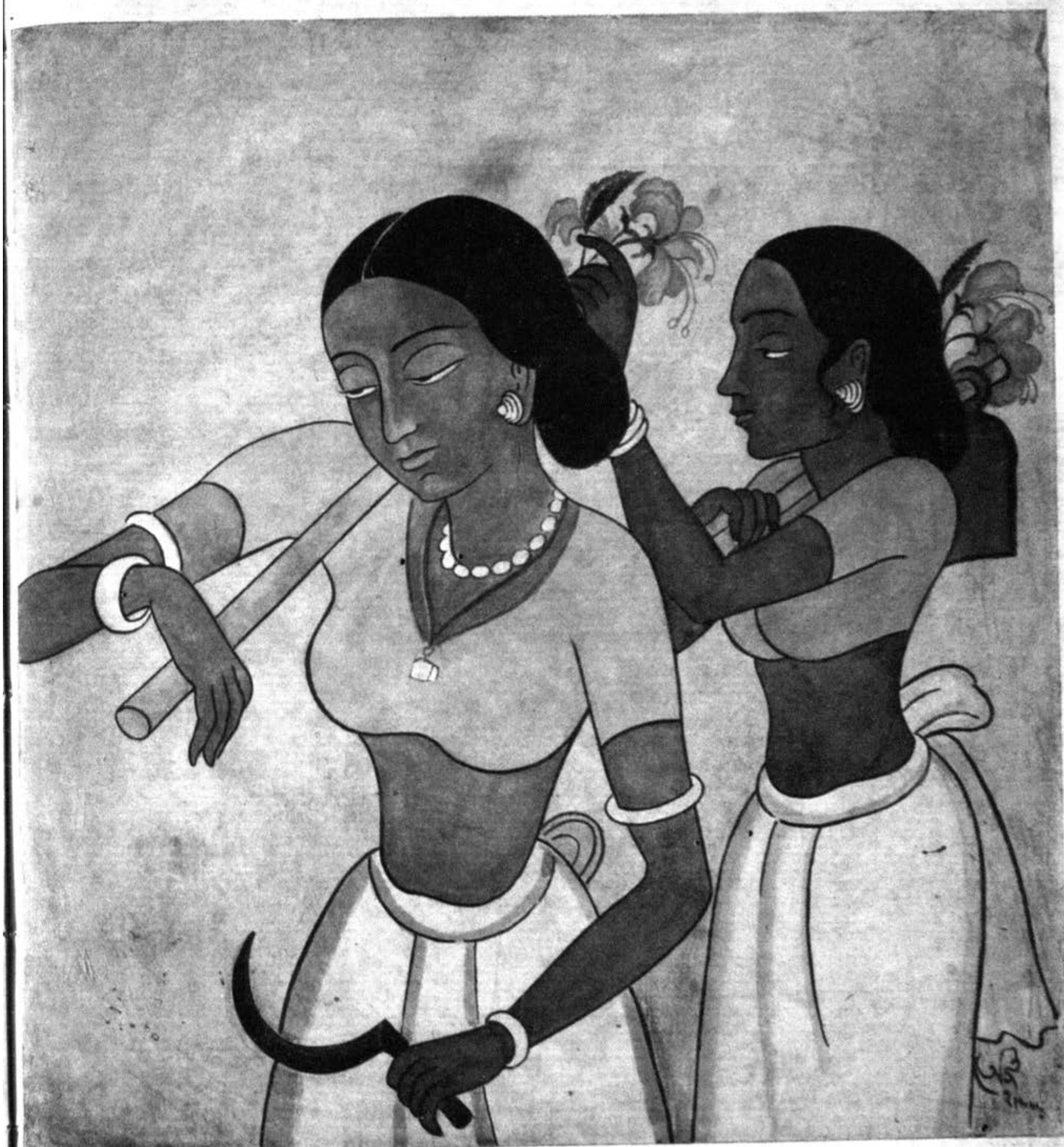
(३) शक, हूण, सीथियन आदि आगन्तुक जातियों के प्रभाव।

(४) भारत के बाहर धर्म-प्रचार, राजनैतिक नीति या व्यापार के लिये गये हुए भारतवासियों-द्वारा लाये गये विदेशी प्रभाव।

(५) इस्लाम की संस्कृति।

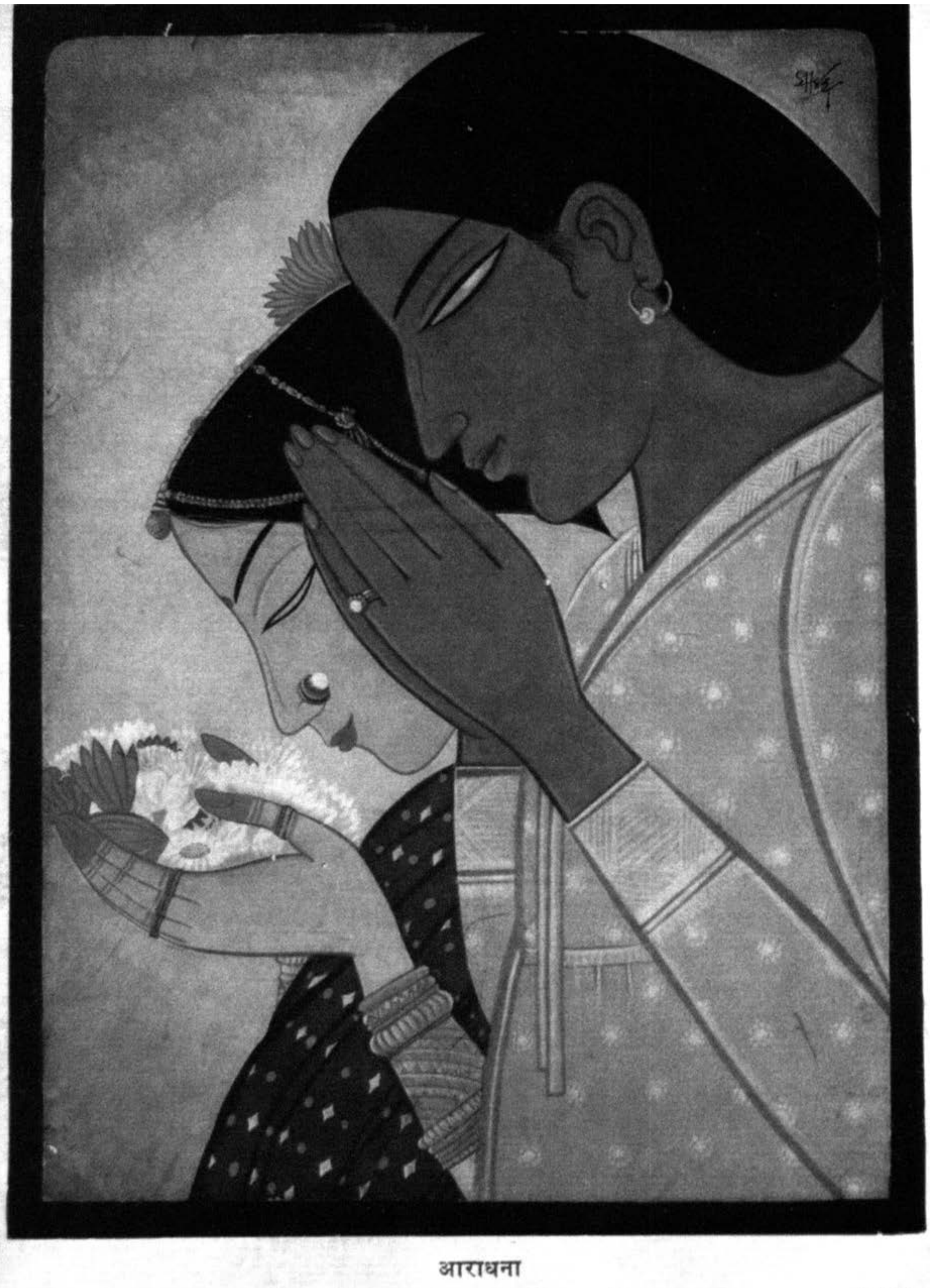
(६) योरपीय संस्कृति।

आर्य-हिन्दू-संस्कृति इन सभी प्रकार के प्रभावों को न केवल लेती रही है, अपितु लेकर जज्ब भी करती रही है। दृष्टान्त के लिए पुराने अनार्य विचारों का ही असर लीजिए। पौराणिक देवमाला पर ब्राह्मणकालीन आर्य-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यह मानी हुई बात है कि पुराणग्रन्थों में देवमाला का जो विशाल विस्तार हुआ है उसमें अनार्य-जातियों की देवमालाओं का काफी मिश्रण है। शक, हूण आदि जातियों का भारतीय आर्य के धर्म पर तो बहुत गहरा प्रभाव नहीं हुआ, परन्तु भाषा, शिल्प आदि पर काफी प्रत्यक्ष प्रभाव हुआ, और यह निश्चय



श्रमिक-शृंगार

(चित्रकार–असितकुमार हालदार)



आराधना

(चित्रकार—आर० सी० साथी)

से कहा जा सकता है कि उस प्रभाव को आर्य-संस्कृति ने सर्वथा अपना लिया। इसी प्रकार इस्लाम की संस्कृति ने भी हिन्दू-संस्कृति पर अपने गहरे असर छोड़े हैं। आज जो हिन्दू-संस्कृति हमें दीख रही है वह आर्य-संस्कृति पर सब बाह्य संस्कृतियों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का परिणाम है।

यह एक बड़ा मनोरंजक प्रश्न है कि वर्तमान हिन्दू-संस्कृति में कितना भाग असली पौदे का और कितना क़लम का है; वर्तमान हिन्दू-संस्कृति में कितना फी सदी हिस्सा प्राचीन आर्य-सभ्यता का और कितना फी सदी बाह्य और आगन्तुक है।

इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है, तो भी इतनी बात भरोसे से कही जा सकती है कि सदियों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बाद भी जहाँ वर्तमान हिन्दू-संस्कृति की अन्तरात्मा अक्षुण्ण है और उसका मुख्य भाग प्राचीन भारतीय आर्य-संस्कृति पर अवलम्बित है, वहाँ साथ ही उसका शरीर बदल चुका है, और उसके मन पर भी बाहर के गहरे असर विद्यमान हैं।

क्या हिन्दू-संस्कृति को जीवित रहना चाहिए?

जिसे हम हिन्दू-संस्कृति कहते हैं वही वस्तुतः हिन्दुस्तान की प्रधान संस्कृति है। जो जातियाँ बाहर से भारत में आती रही हैं उन सभी ने वर्तमान हिन्दू-संस्कृति में अपना-अपना हिस्सा डाला है। उस संस्कृति को हम केवल हिन्दुओं की संस्कृति नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें ऐतिहासिक काल से भी पहले से लेकर आज तक भारत पर जो प्रभाव पड़ते रहे हैं, उन सभी का मिश्रण है। हिन्दुस्तान की मुख्य संस्कृति वही समझी जा सकती है जो हिन्दुस्तान के सम्पूर्ण इतिहास की उपज है। हिन्दुस्तान के सम्पूर्ण इतिहास की उपज वही संस्कृति समझी जा सकती है जो वैदिक काल से लेकर आज तक जय-पराजय के उतार-चढ़ाव में से गुजर कर भी जीवित है और जिसके शरीर पर सैकड़ों सदियों के संघर्ष के निशान विद्यमान हैं।

हिन्दू-संस्कृति में हिन्दुस्तानीपन है। उसकी जड़ें हिन्दुस्तान की भूमि में गड़ी हुई हैं और उसका वर्तमान कलेवर हिन्दुस्तान की जल-वायु से तैयार हुआ है। यही कारण है कि उसका राष्ट्रीयता से गहरा सम्बन्ध है।

इतना ही नहीं, हिन्दू-संस्कृति में अपनी कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो उसे न केवल भारतवर्ष के लिए अपितु सारे संसार के लिए उपयोगी बनाती हैं। हिन्दू-अध्यात्म-शास्त्र, हिन्दू-साहित्य और हिन्दू-दर्शन अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं। उनके बिना संसार के प्राचीन और अर्वाचीन वाङमय का पूरा समन्वय नहीं हो सकता। इस पाश्चात्य सभ्यता के मध्याह्न काल में भी दुनिया की विचार-धारा को भारतवर्ष की विचार-धारा से कुछ न कुछ मिल ही सकता है। केवल भारतवासी ही की दृष्टि से ही नहीं, अपितु विद्या की दृष्टि से भी आर्य-हिन्दू-संस्कृति का जीवित रहना आवश्यक है।

कहा जा सकता है कि इस नवयुग में भारत की नई संस्कृति का ही निर्माण क्यों न किया जाय? हिन्दू-संस्कृति पुरानी बोसीदा हो गई, क्यों न उसकी जगह एक नई हिन्दुस्तानी संस्कृति पैदा की जाय?

विचार अच्छा है, परन्तु प्रश्न यह है कि वह नई संस्कृति भारत के पुराने इतिहास से सम्बद्ध होगी या कोई बिलकुल नई चीज होगी? उसकी जड़ें भारत की भूमि में होंगी या भारत के बाहर से लाकर गमले में लगाई जायँगी? उसमें भारतीयपन रहेगा या उसके स्थान पर ब्रिटिशपन, अरबीपन या जापानीपन रहेगा? यदि उत्तर यह है कि वह नई हिन्दुस्तानी संस्कृति भारत की ऐतिहासिक भूमि से अलग, केवल विदेश से आगन्तुक चीज न होगी तो उसका नाम आर्य-हिन्दुस्तानी या और जो भी नाम चाहें रख लें, हम उसे हिन्दू-संस्कृति के नाम से ही पुकारेंगे। समयानुसार, उसमें परिवर्तन हो सकते हैं, और होने ही चाहिए परन्तु उसकी मूल धारा अविच्छिन्न रहनी चाहिए। परन्तु यदि आप उसे कहीं बाहर से लाकर भूमि के ऊपर जमाना चाहते हैं, तो समझ लीजिए कि आप आकाश-कुसुम की माला बनाना चाहते हैं और खरगोश के सींग से मकान को सजाना चाहते हैं।

हिन्दू और हिन्दुस्तानी में भेद

कुछ लोगों का प्रस्ताव है कि अब हिन्दू-संस्कृति की रक्षा की आवश्यकता नहीं, क्योंकि समय आ गया है कि उसके स्थान पर एक नई 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' का आविष्कार किया जाय। हिन्दू-संस्कृति के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उनमें से मुख्य ये हैं—हिन्दू-संस्कृति पुरानी होने के कारण बूढ़ी हो गई है, उसमें जीवन नहीं रहा। हिन्दू-संस्कृति में साम्प्रदायिकता की बू आती है और राष्ट्रीयता के युग में साम्प्रदायिकता का जीवित रहना

अच्छा नहीं। भारत की स्वाधीनता के लिए आवश्यक है कि एकता कायम की जाय, और एकता तभी कायम हो सकती है जब हिन्दुत्व को दबा कर हिन्दुस्तानीपन को जाग्रत किया जाय। हमें देखना चाहिए कि क्या इन तीनों युक्तियों में कुछ सार है।

पहली युक्ति यह है कि हिन्दू-संस्कृति अब बहुत बूढ़ी हो गई है, वह देर तक जीवित नहीं रह सकती। जो लोग इस युक्ति का प्रयोग करते हैं, कहना पड़ेगा कि वे जातियों के जीवन-मरण के उसूलों को बिलकुल नहीं जानते। मनुष्य पुराना होकर मृत्यु के समीप पहुँच जाता है, परन्तु संसार का इतिहास बतलाता है कि जातियाँ पुरानी होकर मृत्यु के समीप नहीं पहुँचतीं, क्योंकि जाति की जड़ें जितनी ही गहरी होंगी, उसका जीवन उतना ही मजबूत होता जायगा। पुरानी जातियों का कायापलट हो सकता है, वे मर नहीं सकतीं। जो समय व्यक्तियों को बूढ़ा करके मार देता है—वही समय जातियों की जड़ों को मजबूत कर देता है। समय के साथ जो चीजें मजबूत होकर जाति के जीवन को मजबूत बनाती हैं, उन्हीं के समुच्चय का नाम संस्कृति है। पुरानी संस्कृति का नाश हो जाने पर जातियाँ उतनी ही फल-फूल सकती हैं, जितनी जड़ से अलग हो जाने पर लतायें। इसलिए यह मौलिक कल्पना ही निर्मूल है कि जाति की जीवन-रक्षा के लिए पुरानी संस्कृति का नाश करना आवश्यक है। संस्कृति के नाश का अभिप्राय है जाति का नाश। जैसे बुनियाद के टूट जाने पर दीवार और दीवार के गिर जाने पर मकान की छत नहीं रह सकती, इसी प्रकार संस्कृति का नाश हो जाने पर जाति और जाति का नाश हो जाने पर राष्ट्र भी जीवित नहीं रह सकते।

दूसरी युक्ति यह है कि हिन्दू-संस्कृति में साम्प्रदायिकता की बू आती है। हिन्दू-शब्द में साम्प्रदायिकता का अंश है, और हिन्दुस्तानी शब्द में नहीं। इसका कारण समझ में नहीं आता। सिन्धु नदी के कारण इस देश का नाम हिन्द पड़ा, और हिन्द के निवासी हिन्दू कहलाये। हिन्दुस्तान हिन्दुओं के निवास-स्थान को कहते हैं। हिन्द और हिन्दुस्तान—इन दोनों शब्दों के शब्दार्थ और भावार्थ दोनों एक हैं। हिन्दू-शब्द का उद्भव देश की भावना में है—साम्प्रदायिकता की भावना से नहीं। हिन्दवासी को हिन्दू कहते हैं, और उसी को हिन्दुस्तानी कहते हैं। याद रखना चाहिए कि हिन्दूपन, हिन्दुत्व या हिन्दू-संस्कृति आदि शब्द पीछे बने हैं, और हिन्दू शब्द पहले। ऐसी दशा में हिन्दू शब्द की बीजभूत देशभावना का तज्जन्य भावनाओं पर प्रभाव होना चाहिए, न कि तज्जन्य भावों के कारण मूल-भावना को ही अनुदार मान लेना चाहिए।

तीसरी युक्ति यह है कि आज-कल राष्ट्रीयता का युग है। राष्ट्रीयता के युग में हिन्दू-संस्कृति जैसी व्यर्थ वस्तु को जीवित नहीं रखना चाहिए। यह युक्ति, प्रयोग करनेवालों की और अनभिज्ञता का प्रबल प्रमाण है। उन्हें मालूम नहीं कि संस्कृति के आधार पर ही राष्ट्रीयता का निर्माण होता है। मान लीजिए कि आपने राष्ट्रीयता का मार्ग साफ करने के लिए हिन्दू शब्द पर हड़ताल फेरकर हिन्दुस्तानी शब्द का निर्माण किया तो क्या उससे समस्या हल हो गई? क्या जो लोग हिन्दू-संस्कृति का केवल इसलिए विरोध करते हैं कि वह इस्लामी तमद्दुन (संस्कृति) से अलग है, वे हिन्दुस्तानी-संस्कृति को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे? जो लोग हिन्द के निवासी हैं उनकी संस्कृति हिन्दू-संस्कृति कहलाती है, और हिन्द के प्रत्येक निवासी का कर्त्तव्य है कि वह अपने देश की संस्कृति की रक्षा करे। यदि इस सचाई की उपेक्षा करके हिन्दुस्तान के कुछ निवासी अपने देश की संस्कृति को अपनाने को तैयार नहीं तो कौन कह सकता है कि 'हिन्दुस्तानी' नाम का प्रयोग ही जादू का असर रक्खेगा। हिन्दी-भाषा के स्थान पर हिन्दुस्तानी-भाषा का प्रयोग उर्दू के प्रेमियों को हिन्दी-भक्त नहीं बना सका तो कैसे विश्वास किया जा सकता है कि जिन लोगों को हिन्दू-संस्कृति-नाम से चिढ़ है वे हिन्दुस्तानी संस्कृति का लेबल लगते ही उसे अपना लेंगे, और एकता का रास्ता खुल जायगा?

उपर्युक्त विचार-परम्परा से प्रतीत होगा कि हिन्दू-संस्कृति भारतीय राष्ट्र की आत्मा है। जैसे शरीर आत्मा के बिना जीवित नहीं कहला सकता, इसी प्रकार कोई जाति भी संस्कृति के बिना जीवित नहीं कहला सकती। हिन्दू-संस्कृति हम उसे कहते हैं जो हिन्द-देश (भारतवर्ष) के निवासियों की संस्कृति है। वह संस्कृति अगणित सदियों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। आर्य, अनार्य, हूण, शक, यवन-मुसलमान और पाश्चात्य संस्कृतियों के परम्परागत मिश्रण से जो वस्तु पैदा हुई है वही आज हिन्दू-संस्कृति के नाम से पुकारी जाती है। भारत की सीमाओं

के अन्दर आज तक जो कुछ हुआ उसके प्रभावों का समुच्चय हिन्दू-संस्कृति के अतिरिक्त और किसी वस्तु में नहीं मिल सकता। उसी संस्कृति को हम भारतीय राष्ट्र की आत्मा कहते हैं।

जो लोग संस्कृति को मार कर राष्ट्र को जिन्दा रखना चाहते हैं वे असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं। प्रत्येक मानवीय संस्था परिवर्तनशील है। समय और परिस्थितियों के अनुसार वह बदलती रहती है, और उसे बदलना ही चाहिए। यदि वह समय और परिस्थिति के अनुसार न बदले तो मर जायगी। हिन्दू-संस्कृति इन सहस्रों वर्ष तक इसी लिए जीवित रही है कि वह परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है, बाहर के प्रभावों को अपनाती रही है, और उनका सामना करने के योग्य नये जीवन के कीटाणुओं को पैदा करती रही है। जिस प्रक्रिया ने उसे अब तक बचाया है वह प्रक्रिया आगे भी जारी रहनी चाहिए, परन्तु परिवर्तन का अर्थ नाश नहीं। हिन्दू-संस्कृति भारतीय राष्ट्र का प्राण है, उसके सुरक्षित रहने में ही भारतीय राष्ट्र का कल्याण है।

१९४०

❀ ❀ ❀

हमारे सांस्कृतिक पतन का एक चित्र

श्री सम्पूर्णानन्द

संस्कृति से मेरा तात्पर्य गद्यपद्यात्मक वाङमय या वार्ता, चित्रकारी, मूर्तिकला या संगीत से नहीं है, प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक रीति-नीति या साम्प्रदायिक विश्वासों से भी नहीं है। ये सब बातें संस्कृति शब्द के वाच्यार्थ में अन्तर्भूत हैं; परन्तु सचमुच यह देहस्थानीय है; संस्कृति उस देह को जीवन देनेवाला प्राण है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक आकाश है, जो सभी विचारों में व्याप्त रहता है, एक प्रकार का बौद्धिक साँचा है जिसमें चित्त की सभी क्रियायें, सभी वासनायें, सभी भावनायें ढल जाती हैं, एक विशेष दृष्टिकोण है जहाँ से सभी भौतिक और मानस दृग्विषयों पर दृष्टिपात किया जाता है। संस्कृति स्वयं कोई दार्शनिक मत, कोई वाद नहीं है परन्तु एक दार्शनिक पूर्वपीठिका है जिसके मंच पर ही चित्त के सब काम हो सकते हैं। संस्कृति की छाप कला, वाङमय, राजनीति, सामाजिक संगठन, कौटुम्बिक-जीवन, सब पर ही पड़ती है।

भारतीय संस्कृति की प्रधान धारा वही है जो आज से कई सहस्र वर्ष पहले ऋषियों के तपोवनों से निकली थी। ब्रह्मर्षि देश से चलकर यह सुरसरि गंगा-यमुना के तटों पर पुष्ट हुई और आज भी यही एक सूत्र है जिसने करोड़ों भारतीयों को एक माला में गूँथ रक्खा है। इन करोड़ों में केवल हिन्दू ही नहीं वरन् बौद्ध, जैन और सिक्ख भी हैं; यही नहीं, इनमें वे बहुसंख्यक मुसलमान भी हैं जो ग्रामों में रहते हैं और अरबी शब्दों में ईश्वर को याद करते हुए भी अपने रहन-सहन में बाप-दादों की परिपाटी को नहीं छोड़ सके हैं। इस संस्कृति के लिए सबसे उपयुक्त नाम आर्य-संस्कृति होगा। आर्य नाम की कभी कोई पृथक् उपजाति थी या नहीं और यदि थी तो उसका आदिम निवास-स्थान कहाँ था, ये सब रोचक प्रश्न हैं, पर इस स्थान पर अप्रासंगिक हैं। आर्य कोई भी रहे हों और कहीं के रहनेवाले हों, पर यह निर्विवाद है कि सिन्धु, सरस्वती के अन्तर्वेद में एक विशेष संस्कृति का विकास हुआ था। यह संस्कृति किसी और भी प्राचीन संस्कृति की उत्तराधिकारिणी थी या नहीं, इसका उत्तर अभी तक तो इतिहास ने नहीं दिया है। हमारे लिए भी यह प्रश्न यहाँ अनावश्यक है।

आर्य से हिन्दू

हमारे पतन का प्रतीक हमारा हिन्दू नाम है। हम कभी आर्य थे, आज हिन्दू हैं। इस नाम पर हमारे कुछ सम्मान्य भाइयों को इसलिए आपत्ति है कि यह विदेशियों का दिया हुआ है। यह आपत्ति भी हँसकर उड़ाने की बात नहीं है। इतने करोड़ मनुष्य अपने को एक ऐसे नाम

से पुकारें जो उनको किसी समय विदेशियों ने दिया हो, आश्चर्य की बात है। आश्चर्य की मात्रा इसलिए और बढ़ जाती है कि जिन विदेशियों का रक्खा हुआ यह नाम है वे आक्रमणकारी शत्रु थे और विधर्म्मी माने जाते थे। यह माना कि आज इस नाम का अर्थ चोर, डाकू या दास नहीं किया जाता; फिर भी यह उपेक्षणीय नहीं है कि यह नाम हमको इतना प्यारा हो गया है कि पुराने नाम को सुनकर हम चौंक पड़ते हैं और जो व्यक्ति उसके लिए आग्रह करता है उसको पागल समझते हैं।

पर यहाँ केवल शब्दों का प्रश्न नहीं है। यदि हमारे पूर्वज अपने को आर्य कहते थे तो हमको अपने को हिन्दू कहने का पूरा अधिकार है। परन्तु नाम का बदलना अकेला नहीं है। हम आर्य से हिन्दू तो कहलाने ही लगे, हमारी मनोवृत्ति भी बदल गई। हिन्दू-मनोवृत्ति, हिन्दू का बौद्धिक साँचा, आर्य-बुद्धि से भिन्न है और निम्न कोटि की है। मैं इसी से घबराता हूँ। यदि रोका न गया तो यह आर्य-संस्कृति की जड़ काट डालेगी और फिर भारतीय संस्कृति अपनी विशेषता खो बैठेगी।

धर्म का व्यावहारिक स्वरूप

यदि मुझसे पूछा जाय कि एक शब्द में आर्य-संस्कृति का सार बतलाओ तो मैं कहूँगा कि वह शब्द 'धर्म्म' है। धर्म्म एक अद्भुत शब्द है, जिसका पर्य्याय मेरी जानकारी में किसी दूसरी भाषा में नहीं है। ऐसे पद के अर्थ को दो-चार शब्दों में तो क्या दो-चार वाक्यों में भी व्यक्त करना कठिन होता है। 'यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः'* अच्छी व्याख्या है। जिस किसी उपाय से अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति हो उसको धर्म्म कहते हैं। यह व्याख्या तो हुई पर यह इतनी व्यापक है कि थोड़े में इसका भाव समझ में नहीं आ सकता। जो दर्शन का पण्डित है वह तो शास्त्र और तर्क की सहायता से कुछ स्थिर कर सकता है परन्तु साधारण मनुष्य के लिए तो यह द्वार बन्द ही रहेगा। जब तक यह निश्चय न हो जाय कि निःश्रेयस, मोक्ष का स्वरूप क्या है और अभ्युदय किसे कहते हैं तब तक धर्म्म का तत्त्व तो समझ में नहीं आ सकता। परन्तु साधारण मनुष्यों की ही तो संख्या अधिक होती है। आर्य्य-संस्कृति की यह विशेषता थी कि जन-साधारण को शास्त्रार्थ के चक्कर में न डालकर गूढ़ परन्तु व्यावहारिक बातों के भाव हृदयंगम करा दिये जाते थे। सभी लोग अभ्युदय चाहते हैं और बहुत-से लोग मरने के बाद किसी न किसी प्रकार की सद्गति चाहते हैं। अतः धर्म्म परम व्यावहारिक वस्तु है। हमारा जीवन-क्रम, सारा वातावरण, ऐसा था कि अव्यक्त रूप से धर्म्म के स्वरूप का व्यावहारिक ज्ञान हो जाता था।

यह व्यावहारिक रूप क्या है, यह बात उन प्रयोगों से समझ में आती है जिनमें यह शब्द आता है। स्मृतियाँ वर्णाश्रम-धर्म्म का अनुशासन करती हैं। वर्णों के धर्म्म ब्राह्मणादि-भेद से पठन-पाठन, यजन-याजन, दानादान, रक्षा, गोपालन, वाणिज्य और सेवा हैं। इनके साथ-साथ कुछ ऐसे धर्म्म हैं जो सबके लिए एक-से हैं। इन चातुर्वर्ण धर्म्मों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह हैं। यह बात विवादनीय हो सकती है कि अमुक धर्म्म का नाम ब्राह्मण के साथ ही क्यों लिया गया या शूद्र के लिए केवल सेवा-धर्म्म ही क्यों बतलाया गया। यदि यह बात समझ में आती हो कि धर्म्मों का यह विभाग समयानुकूल नहीं है तो हम भले ही इसमें सुधार कर लें।

यदि वर्णविभाग गुणपरक है तो फिर यह कहा जा सकता है कि जो मनुष्य प्रकृत्या अमुक-अमुक धर्म्मों की ओर झुकता है वह अमुक वर्ण में माना जाय। जो कुछ भी हो, यह मेरा विषय नहीं है। मैं तो यह दिखलाना चाहता हूँ कि इन धर्म्मों में दो विशेषतायें हैं। कुछ धर्म्म तो ऐसे हैं जो शरीर और इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति को रोकने के नाम हैं या बुद्धि को संस्कृत करने के साधन हैं। दूसरे धर्म्म यह बतलाते हैं कि दूसरों के साथ क्या करना चाहिए। वाणिज्य, आदान और याजन भी अपवाद नहीं हैं। वाणिज्य के बिना समुदाय का भरण-पोषण नहीं हो सकता और जब वाणिज्य के साथ सत्य और अस्तेय का भी अभ्यास किया जायगा तो वह भी सेवा का एक रूप हो सकता है। यज्ञ करानेवाले और दान लेनेवाले को धनादि की प्राप्ति होती है पर शास्त्रों में याजक और आदाता के जो लक्षण बतलाये गये हैं उनसे तो यह विदित होता है कि यह काम अपने लाभ के लिए नहीं, दाता और यजमान के हित के लिए किये जाते थे। जो तपोनिष्ठ और विद्वान् ब्राह्मण किसी का पुरोहित बनता है या किसी से दान लेता है वह उसके दुष्कर्म का बोझ हलका करके उस

*वैशेषिक सूत्र।

पर उपकार करता है और जो विद्वान् और तपोनिष्ठ नहीं है वह न यह बोझ उठा सकता है, न दान लेने या यज्ञ कराने का अधिकारी है। बचपन से इन धर्म्मों में दीक्षा पानेवाला दूसरों की अपेक्षा संयमी और कम लोभी होगा।

जो ऊँची कोटि का दार्शनिक है वह तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मानता है, अपने और पराये में कोई भेद नहीं देखता, यह जगत् उसके लिए माया-मरीचिका है। परन्तु सबकी पहुँच यहाँ तक नहीं हो सकती। साधारण मनुष्य यदि इस भाव से प्रेरित हो सके कि वह प्राणिमात्र का सम्बन्धी और ऋणी है और परार्थ-साधन में ही उसका हित है, यदि वह अपने कामों को निष्काम भाव से करने का अभ्यास डाल सके तो उसका जीवन सार्थक है। यह अभ्यास हँसी-खेल नहीं है पर जितनी भी सफलता मिले, श्रेयस्कर है।

यह धर्म्म के व्यावहारिक रूप का एक छोटा-सा चित्र है। आर्य्य-संस्कृति की यह सर्वोपरि विभूति थी। वेद में एक आदेश है 'कृणुध्वं विश्वमार्य्यम्'–विश्व को आर्य्य बनाओ। वहाँ यह उद्देश्य नहीं है कि सब लोग संस्कृत-भाषा को उलटा-सीधा बोलकर इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु या रुद्र का नाम लेना सीख जायँ प्रत्युत यह कि सारा जगत् उन उदार आदर्शों को स्वीकार कर ले जो आर्य्य-संस्कृति की देन हैं।

धर्म और अधिकार

आज वेद-मंत्रों का उच्चारण करते हुए भी हम आर्य्य नहीं रह गये हैं। हिन्दू धर्म्म को नहीं, अधिकारों को जानता है। किसी भी प्राचीन शास्त्रकार ने अधिकारों की चर्चा नहीं की। ब्राह्मण, संन्यासी, क्षत्रिय, शूद्र, गृहस्थ, ब्रह्मचारी इनको क्या करना चाहिए यह बतलाया गया; दूसरों से क्या माँगना चाहिए इसका कहीं उपदेश नहीं है। हाँ, एक के धर्म्म में दूसरे का अधिकार भी अन्तर्भूत है। यदि सब अपने धर्म्म का पालन करें तो सबको अपने अधिकार आपसे आप प्राप्त हो जायँ। अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए लोग किसी व्यक्ति-विशेष के साथ जैसा आचरण करेंगे वही उसका अधिकार समझना चाहिए।

धर्म्म के सम्बन्ध में एक और खराबी हुई है जो इससे कम नहीं है। मुसलमानों और फिर ईसाइयों के आने पर हमको मजहब और रेलिजन के लिए शब्द ढूँढ़ने पड़े। सच बात यह है कि हमारे पास इनका कोई ठीक पर्य्याय नहीं था। सम्प्रदाय शब्द कुछ-कुछ मिलता-जुलता है पर ठीक-ठीक अर्थबोध उससे भी नहीं होता। फिर भी अच्छा होता कि हम उसका ही मजहब के अर्थ में प्रयोग करते और वैष्णव, शैव, शिया-सुन्नी, कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट जैसे अवान्तर भेदों को उपसम्प्रदाय कहते। सीधे मजहब शब्द को ले लेना भी बुरा न होता। पर यह सब न करके हमने धर्म्म शब्द की ही दुर्गति कर डाली और उसका अर्थ मजहब मान लिया। यह बड़ा अनर्थ हुआ। मजहब का सार होता है किसी एक उपास्य और उपासना-पद्धति पर अटल श्रद्धा। मजहबी मनुष्य यह मान ही नहीं सकता कि उसके उपास्य के सिवाय कोई और उपास्य हो सकता है और उसके मजहब में बतलाई हुई पद्धति के बराबर फलवती कोई और पद्धति हो सकती है। प्रत्येक मजहब आचार-विचार भी बतलाता है परन्तु आचार गौण और उपासना मुख्य है। आर्य्य-संस्कृति में यह बात न थी। आर्य्य-धर्म्म का दूसरा नाम वर्णाश्रम-धर्म्म था। इसमें न कोई पैगम्बर या मतप्रवर्त्तक था, न किसी उपास्य के लिए विशेष स्थान है।

हिन्दुओं के वर्तमान ईश्वर का विकास

जब आर्य्य-धर्म्म की जगह हिन्दू-मजहब ने ली तो फिर एक उपास्य की भी खोज हुई, क्योंकि उपास्य ही मजहब का केन्द्र होता है। कुरान या बाइबिल या ग्रंथ साहब का पद बड़ा ऊँचा है पर यह पद स्वतंत्र नहीं है। यह उँचाई इनको इसलिए मिली है कि इनको ईश्वर का वाक्य या ऐसे ईश्वरतुल्य महात्माओं की वाणी माना जाता है जिनके शब्द ईश्वर के ही अभिप्राय के अभिव्यंजक होते हैं। इन सबके पीछे ईश्वर की सत्ता है। जब हिन्दू मजहबी हुआ तो उसे भी इस जोड़ की एक सत्ता चाहिए थी। उसके पास वेद था, वह वेद को श्रुति, अपौरुषेय मानता था पर पोथी अकेले अपने बल पर खड़ी नहीं रह सकती थी। गऊ से भी कुछ काम निकला। सिर फोड़ने-फुड़ाने के लिए गऊ एक अच्छा दृश्य साधन है पर मनुष्य किसी पशु को अपने मजहब का शिरःस्थानीय कहाँ तक बना सकता है। आखिर, दूसरे मजहबवालों की बराबरी की ही वस्तु तो होनी चाहिए थी, नहीं तो अपना सिर नीचा होता। फिर, पशु या कोई भी दूसरी वस्तु जो खाती-पीती, बनती-बिगड़ती या जीती-मरती रहती हो वह मनुष्यों को बराबर अपने वश में नहीं रख सकती। ऐसी अवस्था में हिन्दुओं के वर्तमान ईश्वर का विकास हुआ। जी तो चाहता है कि

यों कहा जाय कि आजकल के ईश्वर का निर्माण किया गया।

यह विचारणीय बात है कि आर्यों के प्राचीन और पवित्रतम ग्रंथ ऋग्वेद में ईश्वर शब्द कहीं नहीं आया। यजुर्वेद में जहाँ तक मुझे स्मरण है, ईशान प्रयोग तो आया है परन्तु ईश्वर नहीं। कई वर्ष हुए, बनारस-संस्कृत कालिज के आचार्य्य मंगलदेव शास्त्री का एक एतद्विषयक रोचक निबन्ध देखने में आया था। परन्तु शब्द आया हो या न आया हो, ईश्वर की सत्ता वे लोग नहीं मानते थे ऐसी बात नहीं है। उपनिषदों में ऐसे सैकड़ों वाक्य भरे पड़े हैं जिनमें ईश्वर का प्रतिपादन है। संहिताभाग में भी ऐसे बहुत से स्थल हैं। यह स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि पुकारने के इन्द्र, वायु आदि अनेक नाम हैं पर वह एक ही है; 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। जगत् के विकास के पहले वही था; 'आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास'—वह एक अपनी शक्ति के साथ बिना वायु के साँस ले रहा था, उसके सिवाय और कुछ न था (ऋग्वेद, १०म मण्डल, १२९वाँ सूक्त, २रा मंत्र)।

आर्य्य एकेश्वरवादी था, हिन्दू एकोपास्यवादी, अँगरेजी शब्दों में 'मॉनोथीस्ट' बनने के प्रयत्न में लगा। हो न सका क्योंकि पुराना संस्कार बहुत दृढ़ था पर प्रयास हुआ और होता जा रहा है। पश्चिम के संसर्ग का ऐसा प्रभाव पड़ा है कि जो लोग पौराणिक पद्धतियों को हटाकर वैदिक काल पुनः स्थापित करना चाहते हैं वे भी एकोपास्यवाद को ही मानते हैं।

एकेश्वरवादी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है और यह भी मानता है कि ईश्वर एक ही है। परन्तु वह उपासना के क्षेत्र में उदारबुद्धि रखता है। उपासना को व्यक्तिगत विषय मानता है। तर्क करना दूसरी बात है पर वह ईश्वर के नाम पर किसी से लड़ नहीं सकता। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर की सत्ता नहीं मानता या कई स्वतंत्र ईश्वरों की सत्ता मानता है तो उससे द्वेष नहीं करता। कोई एकेश्वरवादी उस एक ईश्वर को एक ही रूप से उपास्य मानता है, कोई ऐसा मानता है कि वह कई रूपों से व्यक्त हो रहा है और इन रूपों की पृथक्-पृथक् उपासना करता है, कोई ईश्वर से छोटे, पर उससे भिन्न देव-देवियों को उपास्य ठहराता है। एकोपास्यवादी ऐसा नहीं कर सकता। वह तो उस एक ईश्वर के सिवाय किसी को उपास्य मान ही नहीं सकता और उपासना का भी एक ही बँधा ढंग श्रेयस्कर मान सकता है। उसका ईश्वर चरित्र को गौण और अपनी पूजा को प्रमुख स्थान देता है। वह एक ऐसा पिता है जो इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होता कि सन्तान सच्चरित्र और सन्मार्गगामी हो प्रत्युत यह भी चाहता है कि लड़के दिन-रात मेरा और केवल मेरा यशोगान किया करें, अन्यथा वह निर्मम होकर उनका गला घोंट सकता है।

आर्य्यों का पुराना ईश्वर यथासम्भव इस नये ईश्वर के रूप में विकसित हुआ। वह अपने पुराने रूप का पूरा-पूरा परित्याग तो नहीं कर सका। अब भी वह विश्वेश्वर रहा, हिन्दू उसे केवल अपना ईश्वर नहीं बना सके। अब भी उसका और दूसरे सब प्राणियों का अंशी और अंश, आग और चिंगारी, जल और बूंद का सम्बन्ध रहा, अब भी सब देव-देवी उसी के भेद रहे। जब सब जगहों में वही था तो फिर हिन्दू उसका नाम लेकर उसी के नाम पर बने हुए दूसरे उपासनागृह जैसे मसजिद या गिरजा को न तोड़ सके और न अहिन्दुओं को बलात् हिन्दू बनाने में प्रवृत्त हो सके। फिर भी इस पुराने ईश्वर ने अपने वास्तविक कलेवर के ऊपर नया लबादा पहनकर नया वेश बना ही लिया। एक तो उसकी शक्ति बढ़ गई। अब वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थः'—करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ हो गया। अपना यशोगान करनेवालों को कर्म्मफल-भोग से छुट्टी दे देने की क्षमता उसमें हो आई।

प्रारब्ध और किस्मत

आर्य्यधर्म और संस्कृति का मूल कर्म्म सिद्धान्त था, प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दुख के लिए आप दायी है। आयु और भोग अपने कर्म्मों के संस्कारों का फल है। न इन बातों का कारण किसी अलक्ष्य व्यक्ति की कृपा-अकृपा है, न घटनाओं का अहैतुक संयोग। आत्मा अमर, पूर्णप्रज्ञ और स्वतंत्र है पर उसके साथ अज्ञान और अज्ञान-जनित अशक्ति का कृत्रिम बन्धन लगा है। जहाँ तक अज्ञान है वहाँ तक बन्धन है परन्तु आत्मा की शक्ति कभी नष्ट तो होती नहीं, वह अपनी खोई स्वाधीनता पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। बस, हमारे सारे काम इसी प्रकार बन्धन और स्वातंत्र्य के संघर्ष से उत्पन्न होते हैं। किसी में बन्धन की मात्रा अधिक होती है, किसी में कम। पूर्णप्रज्ञ व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र होगा। कोई ऐसी शक्ति

नहीं है जो भोग में एक रत्ती भर सुख की मात्रा बढ़ा सके या उसमें से एक रत्ती भर कम कर सके।

यावन्न क्षीयते कर्म्म, अशुभं शुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो, नृणां जन्मशतैरपि॥

जब तक शुभाशुभ कर्म्मों का क्षय नहीं हो जाता, तब तक सैकड़ों जन्मों में भी मोक्ष नहीं हो सकता।

किसी भी एक जन्म में पिछले सब जन्मों के सब कर्म्मों के फल नहीं भोगे जा सकते क्योंकि भोग तभी हो सकता है जब दूसरे लोग भी, जिनको भोग में किसी न किसी रूप में भाग लेना है, तैयार हों। इसलिए, किसी एक जन्म में पहले के संचित भण्डार में से थोड़ा-सा ही अंश भोग के लिए परिपक्व होता है। इस अंश को प्रारब्ध (आरम्भ हो चुका) कहते हैं। प्राणी प्रारब्ध के साथ जन्म लेता है और उसका जीवन उसी के अनुसार होता है। इस संबंध में दो बातें सदा स्मरणीय हैं। एक तो यह कि अपने प्रारब्ध का पूरा दायित्व अपना है। हमारे पिछले कर्म्मों ने उसे उत्पन्न किया है और इस समय के कर्म्म आगे के जन्मों के प्रारब्ध के स्वरूप को निश्चित करेंगे। दूसरी बात यह है कि मनुष्य प्रारब्ध का दास नहीं है। उसकी आत्मा स्वतंत्र है और, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, प्रतिक्षण अपने स्वरूप का अनुभव करने का यत्न करती रहती है। अनुकूल परिस्थिति में, बहुत गम्भीर भावावेश में, ऊँची कोटि की कला के सम्पर्क में वह थोड़ी-बहुत देर के लिए बन्धनों को न्यूनाधिक शिथिल कर देती है। स्वातंत्र्य के इस अनुभव को अभ्यास से बढ़ाना सम्भव है। इसलिए कर्म-संस्कार का अतिक्रमण भी हो सकता है। यदि ऐसा न हो तो कोई कभी मोक्ष पा ही नहीं सकता क्योंकि कर्म्म से भोग, भोग के लिए शरीर, शरीर से पुनः कर्म्म, यह चक्र तो घूमता ही जायगा, कभी रुक ही नहीं सकता।

जिन मजहबों से हमारा सामना पड़ा वे ऐसा नहीं मानते। उनके मत में, ईश्वर ने अपनी इच्छा से जगत् की रचना की और एक दिन संहार करेगा। यह ठीक है कि उसकी कुछ आज्ञायें हैं जिनको माननेवाला सुखी रहता है—यदि यहाँ सुख न मिला तो मरने पर मिलेगा—और उनका उल्लंघन करनेवाला दुःख पाता है—यदि यहाँ दण्ड न मिला तो मरने पर मिलेगा। परन्तु ईश्वर किसी के सत्कर्म्म, दुष्कर्म्म से बँधा नहीं है। वह सदाचारी से भी रुष्ट हो सकता है और दुराचारी पर भी प्रसन्न हो सकता है। उस पर ईमान लानेवाला दुराचारी ईमान न लानेवाले सदाचारी से अच्छा और ईश्वर को अधिक प्यारा है। हमारे इस जन्म के सुख-दुःख ईश्वर के दिये हुए हैं। उसने ऐसा क्यों किया, यह तो वही जान सकता है। क्यों कोई जन्म ही से अन्धा, कोढ़ी, रोगी, मूर्ख और दरिद्र है और कोई स्वस्थ, सम्पन्न और बुद्धिमान् है, यह बात तर्क से समझ में नहीं आ सकती। शरण जाने से वह दुःख को सुख में बदल सकता है, अकारण ही सुख को दुःख में परिणत कर सकता है। मनुष्य को चुपचाप सहन करने के सिवाय कोई और उपाय नहीं है। जैसा कि एक सूफी महात्मा ने उपदेश दिया है, यह समझकर सन्तोष करो कि 'तीरे दोस्त बपहलूए दोस्त मी आयद'—यदि तुमको तीर भी लगा, तो उसको चलानेवाला तुम्हारा मित्र, सच्चा हितू है, कुछ समझकर ही चलाया होगा। जो कुछ भी हो, ईश्वर की इच्छा अटल है। ईश्वर ने हमारे हिस्से में जो कुछ डाल दिया वह हमारी 'किस्मत' है।

इस संक्षिप्त वर्णन से प्रारब्ध और किस्मत का सादृश्य और भेद दोनों बातें प्रकट हो जाती हैं। किस्मत और प्रारब्ध दोनों ही जन्म से साँचे हैं और दोनों ही जीवन को अपने साँचे में ढालते हैं। दोनों को ही धैर्य्य और सन्तोष से सहना होगा। परन्तु प्रारब्ध अपना कमाया हुआ है और किस्मत ईश्वर की देन है। हम प्रारब्ध के दास नहीं हैं, उसको बदल भी सकते हैं परन्तु किस्मत अमिट है। प्रारब्धवादी अपने कामों को देखता है पर किस्मतवादी को ईश्वर का मुँह ताकते रहना पड़ता है। दुःखपूर्ण होते हुए भी प्रारब्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता का द्योतक है—सुखमय होते हुए भी किस्मत उसकी परतंत्रता का चिह्न है। प्रारब्ध आत्मविश्वास सिखलाता है और किस्मत दीनता सिखलाती है। प्रारब्ध निश्चयात्मक है, किस्मत संशयात्मक।

उपासना का नया स्वरूप

(क) नये युग की देवस्तुतियाँ

प्राचीन काल में, जहाँ तक मैं देख पाया हूँ, दो उपासना-पद्धतियाँ थीं। एक तो यज्ञात्मक थी। साधारण गृहस्थ से लेकर बड़े चक्रवर्ती नरेश और ऋषि-मुनि तक यज्ञ किया करते थे। यज्ञ भी कुछ तो नित्यकरणीय थे।

इनका कुछ उल्लेख पहले आ चुका है। इनका उद्देश्य ऋण-मोचन था। दूसरे यज्ञ किसी निमित्त को लेकर किये जाते थे। निमित्त भी दो प्रकार के हो सकते हैं—विशेष और साधारण। युद्ध में विजय, साम्राज्य-स्थापन, पुत्रोत्पत्ति यह सब विशेष उद्देश्य हैं। साधारण उद्देश्य वे हैं जिनकी चाह सबको ही रहती है या रहनी चाहिए। ये उद्देश्य इन मंत्रों से व्यक्त होते हैं—

पश्येम शरदः शतम्,
शृणुयाम शरदः शतम्,
जीवेम शरदः शतम्,
प्रब्रवाम शरदः शतम्,
अदीनाः स्याम शरदः शतम्,
भूयश्च शरदः शतात्।

हम सौ वर्ष और सौ वर्ष से ऊपर जियें, सौ वर्ष और सौ वर्ष से ऊपर हमारी चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय (अर्थात् सभी ज्ञानेन्द्रियाँ) ठीक-ठीक काम दें, सौ वर्ष और सौ वर्ष से ऊपर हम बोलते रहें (अर्थात् हमारी वाक् आदि सब कर्म्मेन्द्रियाँ ठीक-ठीक काम करती रहें), हम सौ वर्ष और सौ वर्ष से ऊपर अदीन रहें (किसी के आश्रित न रहें)!

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि।

तू तेज है मुझमें तेज धारण कर, तू वीर्य्य है मुझमें वीर्य्य धारण कर, तू बल है मुझमें बल धारण कर, तू ओज है, मुझमें ओज धारण कर, तूँ मन्यु है मुझमें मन्यु धारण कर, तू शक्ति है, मुझमें शक्ति धारण कर।

उपासना की दूसरी पद्धति वह थी जिसे योगाभ्यास कहते हैं। वेद का संहिता-भाग कर्मकाण्डप्रधान है अतः उसमें इसका वर्णन प्रायः नहीं आता, फिर भी कहीं-कहीं संकेत मिलता है। नाभा नेदिष्ट (ऋक्-१०, ५६, ५) अपने पूर्वजों के संबंध में कहते हैं—

सहोभिर्विश्वं परिचक्रम् रजःपूर्वा धामान्यमिताभिमानाः।
तनूषु विश्वा भुवनानि येमिरे....

वह अपनी शक्ति से सारे विश्व में घूम चुके हैं। जिन प्राचीन भुवनों में कोई नहीं जाता वह वहाँ गये हैं। अपने शरीर से उन्होंने सारे भुवनों को व्याप्त कर लिया है....

योग अन्तःकरण के मलों को धोता है और आत्मा के कृत्रिम बन्धनों को काटता है। योगी की आत्मस्वरूपानुभूति, आनन्दानुभूति, प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इसी से तो श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्द ब्रह्मातिवर्तते'—योग का जिज्ञासु भी उस पद के ऊपर जाता है जहाँ मनुष्य कर्मकाण्ड के द्वारा पहुँचता है। योग की क्रिया आत्मनिर्भरता और आत्म-विश्वास को उत्पन्न करती और बढ़ाती है। योगी ईश्वर में निष्ठा भी रखता है और अपने गुरु का सेवक भी होता है फिर भी वह जानता है कि मुझे अपने पाँव चलकर यह मार्ग पार करना है, कोई दूसरा मुझे मोक्ष की भिक्षा नहीं दे सकता, और कैवल्यावस्था में मुझे अपने स्वरूप का अनुभव होगा।

अब इधर की दशा देखिए। यज्ञ-याग चले गये। मैं उनके लिए रोने नहीं बैठा हूँ। यदि आर्य्य जाति ने स्थूल उपासना को छोड़कर ऊँची आध्यात्मिक उपासना-शैली को अपनाया होता तो यह हर्ष की बात होती पर ऐसा नहीं हुआ। नई शैली दरिद्रता और पराधीनता की गोद में पली, वह ऊँचे भला कहाँ उठ सकती थी। प्रार्थनाओं को ही लीजिए। इन्द्र, रुद्र, विष्णु, अश्विद्वय न सही पर राम, कृष्ण, महादेव, काली, गणेश और हनुमान से प्रार्थनायें आज भी की ही जाती हैं। परन्तु आज कल की स्तुतियों को वेदमंत्रों से मिलाइए, तत्काल दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर देख पड़ता है। इधर पिछले कई सौ वर्षों में बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं के या लौकिक कवियों के रचे स्तोत्र देख जाइए, मंत्रों के टक्कर के भाव बत्ती लेकर ढूंढ़े न मिलेंगे। कोई स्वस्थ शरीर, दीर्घ आयु, पुष्ट इन्द्रियाँ, बल, विक्रम, तेज, ओज, श्रद्धा, उदार बुद्धि, मेधा माँगता ही नहीं। निर्बल के बल और निर्धन के धन राम को सब पुकारते हैं पर उनसे खुलकर बल और धन नहीं माँगते बनता। यह वैराग्य का प्रमाण नहीं है। वैराग्य होता तो राम के नाम के साथ धन और बल न जोड़ा जाता, केवल मुक्तिदाता राम की याद आती।

हिन्दी में अनुवादों को छोड़कर किसी मौलिक स्तुति में रूप, यश और विजय की प्रार्थना न मिलेगी। भूषण या डिंगल कवियों का नाम लेना व्यर्थ है, उनकी कविता जिस वातावरण में लिखी गई थी उसमें आर्य्यत्व की झलक थी। भारत, विशेषतः उत्तर-भारत, की साधारण जनता के हृदयों पर इस प्रकार की रचना का स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उसके अनुकूल चित्तवृत्ति ही न थी। स्वाभिमान का मूल्य कितना कम था, इसका संकेत इस बात से मिलता

है कि इस काल में भ्रातृहन्ता देशद्रोही विभीषण आदर का पात्र बन गया। चामुण्डा के मन्दिर भी थे, खड्ग की पूजा भी होती थी पर जो लोग अपनी तलवार को निरीह बकरे का सिर काटने का साधन समझते थे उनके निर्वीर्य्य हृदय वीरगाथा और ओजस्वी स्तवों को लोरी से अधिक महत्त्व नहीं दे सकते थे। ऐसे समय में वेद-मंत्रों की तो भला क्या पूछ होती, चण्डी-पाठ शक्तिप्राप्ति के लिए नहीं, प्रेतबाधा-निवारण के लिए कराया जाता था। महाभारत के पढ़ने-पढ़ाने का चलन उठ गया। सबसे अधिक लोकप्रियता सत्यनारायण की कथा को मिली। कैसा भोंडा आदर्श यह पोथी दिखलाती है। साधु बनिया न जाने कितना झूठ-सच बोलकर मालामाल होता है इसके लिए नारायण उसकी भर्त्सना नहीं करते। उसने यों ही बिना झूठ बोले एक का चार बना लिया होगा यह नहीं हो सकता, क्योंकि इन्हीं नारायण के अवतार व्यास जी कहते हैं—

नाच्छित्वा परमर्माणि, नाकृत्वा कर्म्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव, प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

बिना दूसरे के मर्मस्थान का छेदन किये, बिना दुष्कर कर्म्म किये, बिना मछली पकड़नेवाले की भाँति बहुतों को हानि पहुँचाये कोई मनुष्य महती श्री को प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु नारायण इन बातों को नहीं देखते। वे यह चाहते हैं कि यह मनुष्य केवल एक बात में सच्चा रहे—मेरी पूजा समय से कर दे। इस एक रिश्वत से सब अपराध क्षमा हो सकते हैं। किसी उन्नत समाज में ऐसी कथा पूज्य नहीं हो सकती। सत्यनारायण की कथा सत्य की प्रतिष्ठा को भ्रष्ट करती है—असत्यभाषियों और पतित चरित्रवालों को धर्म्म की आँख में धूल झोंकने का एक सुकर लटका बताती है। ऐसे ही तिनकों से पानी के बहाव की दिशा का पता चलता है।

उपासना का नया स्वरूप

(ख) भक्ति

ऐसे वातावरण में हिन्दू मजहब की नई उपासनाशैली का जन्म हुआ। इसको प्रायः भक्तिमार्ग कहते हैं। निरुद्यमी, दीनप्रकृति, आत्म-विश्वासशून्य लोगों की समझ में यह बात बैठा दी गई कि इस युग में योग और तप नहीं सध सकता। योग शब्द का तो एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया।

भक्ति के संबंध में थोड़ा-सा विचार करना उचित प्रतीत होता है।

भक्ति किस भगवान् को बहुत प्यारी है? आजकल का ईश्वर तो खुदा का पदानुसरण करता है। बहुत संभव है कि उसको यह पसन्द हो कि लोग आत्म-निर्भरता छोड़कर मेरी खुशामद किया करें, अपने संयम और तप का सहारा छोड़कर मेरा गुणानुवाद किया करें। पर आर्य्यों के पुराने ईश्वर में तो यह कुटेव नहीं थी। वेद उसकी श्वासा है। यदि श्रुति का कोई कर्त्ता है तो स्वयं ईश्वर है, तो वेद में तो उसने भक्ति की महिमा नहीं गाई। न तो इस सस्ती जुगत का पता संहिताभाग में चलता है न ब्राह्मणभाग में।

भक्ति का स्वरूप क्या है? भक्ति के नाम पर साधु-महात्माओं के बनाये पद पढ़ना, गाना, नाचना, यह सब होता है। पर क्या यह बातें मोक्ष देनेवाली हैं? यदि पढ़ने-गाने से ही मुक्ति मिलती हो तो कलियुगी महात्माओं की रचनाओं की अपेक्षा ईश्वरकृत ऋचाओं के पाठ से और सामगान से अधिक फल मिलना चाहिए। केवल षोडशोपचार से पूजा-अर्चा करना भी पर्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि दिखलाने-मात्र के लिए ऐसा करना तो श्रीकृष्ण के मत से निन्द्य है। उन्होंने गीता के सत्रहवें अध्याय में ऐसी निष्ठा को बुरा कहा है। पुराणों में बार-बार यह कहा गया है कि ऐसी पूजा से प्राणियों की सेवा का पद कहीं ऊँचा है।

येन केन प्रकारेण, यस्य कस्यापि जन्तुनः।
सन्तोषं जनयेद्धीमान्स्तदेवेश्वरपूजनम्॥

जिस किसी प्रकार से भी हो सके, बुद्धिमान् किसी जीव को तुष्ट करे, यही ईश्वरपूजन है।

प्रत्येक शब्द एक विशेष प्रकार के भावों के साथ बँधा रहता है। जहाँ उसका प्रयोग होगा उस प्रकार के भाव अवश्य उदय होंगे। भक्ति में भिक्षा, याचना, दैन्य का भाव भरा है। जहाँ यह शब्द प्रयोग में आयेगा, वहाँ यह भाव भी आयेंगे। ईश्वर के सामने नतशिर होना, उसके सामने गिड़गिड़ाना बुरी बात हो या न हो परन्तु यह नम्रता यहीं तक रुकती नहीं। दुर्बल, पराधीन, स्वाभिमानशून्य, भारतीयों की भक्ति, मेधावी, ओजस्वी, बलवान्, स्वतंत्र, सम्भावित आर्य्यों का ईश्वरप्रणिधान नहीं है, यह वह वासुदेवः सर्वम्—ईश्वर सब कुछ है—भाव नहीं है जिसका प्रतिपादन श्रीकृष्ण ने किया था। वह भाव तो अर्जुन जैसे कर्म्मठ व्यक्तियों में ही आ सकता है। ऐसे ही मनुष्यों को योग का अधिकार है—इसीलिए तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योग का उपदेश दिया—और ऐसे ही योगी भगवान्

को प्रिय हो सकते हैं। वह अपने को योगी कहते लज्जित नहीं होते। दुर्बल, कर्म्मपराङ्मुख, पौरुषहीन की दीनता भक्ति के नाम से परलोक में भी उसकी टाँग पीछे घसीटती है। योग आर्य्यत्व का प्रतीक है, भक्ति हिन्दुत्व की छाप है।

अब समय बदल रहा है। भारतीय स्वतंत्र हो रहे हैं, आशा है सम्पन्न और सुखी भी होंगे। इससे उनकी मनोवृत्ति भी बदलेगी। आत्मविश्वास और उत्साह की कमी दूर होगी, दैन्य और अकिंचन भाव के स्थान में स्वाभिमान बढ़ेगा। इसका परिणाज सांस्कृतिक क्षेत्र में भी पड़ेगा और वह हेय हिन्दूपन जिसके रूप को मैंने अंशतः दिखलाने का प्रयत्न किया है स्वतः तिरोहित हो जायगा। परन्तु यही भय का स्थल है। वह तो तिरोहित हो जायगा पर उसकी जगह क्या आयेगा? यदि उसका स्थान आध्यात्मिक उपेक्षा, अविश्वास, अश्रद्धा, अनात्मवाद ने लिया तो यह भी अनर्थ होगा। हमारा और जगत् का कल्याण इसी में है कि हम पुनः आर्य्य-संस्कृति को अपनायें और इस आर्य्य-संस्कृति के आधार पर उस भारतीय संस्कृति को खड़ा करें जो भावी विश्व-संस्कृति का मुख्यतम अंग होगी।

१९४२

❀ ❀ ❀

नेपाल की नेवार-जाति

श्री दिल्लीरमण रेग्मी एम० ए०, एम० लिट्०

नेपाल की नेवार-जाति बहुत प्राचीन है—इतनी प्राचीन कि उसकी सभ्यता को देखते हुए अनेक सभ्यतायें कल की ज्ञात होती हैं। लिच्छवि-कालीन भारत में कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि नेवार-जाति उन दिनों भी अपनी उन्नति की पूर्णता पर थी, यद्यपि तत्कालीन साहित्य में उस जाति का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि नेवारी सभ्यता मोहन-जो-दड़ों और हरप्पा के समकालीन है। कुछ भी हो, नेवार-जाति में कुछ ऐसा आकर्षण है कि उसके विषय में कुछ जानना कम रोचक न होगा।

यह जाति आधुनिक सभ्यता की चोटों से अपने को सावधानी के साथ बचाये रही है, अतः इसका आज तक वैसा ही रूप बना हुआ है जैसा कभी पहले रहा होगा। इस जाति के अध्ययन से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा हमें नेपाल की सभ्यता और संस्कृति के मूल-रूप के समझने में सहायता मिल सकती है। 'नेपाल' शब्द आज एक देश-विशेष के अर्थ में रूढ़ि हो गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। कोई इसका सम्बन्ध 'ने' मुनि से लगाते हैं, जिनकी इतिहास के पृष्ठों में कोई सत्ता नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस देश की तराई में अशोक वृक्षों की बहुलता है, जिन्हें नेवारी-भाषा में 'ने' कहते हैं, इस कारण इसका नाम नेपाल पड़ा है। 'नेपा' का अर्थ मध्यदेश भी है—जैसा कि नेवारी-भाषा में प्रचलित है, इस कारण भी इसका नाम 'नेपाल' पड़ना कहा जाता है। पर 'नेपा' में 'ल' का योग कहाँ से हो गया, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता। नेवार लोग अब भी नेपाल को 'नेपा' ही कहकर पुकारते हैं, इससे यह अनुमान भी लगाना कठिन नहीं है कि संस्कृत के पंडितों ने ही 'नेपा' को सार्थक रूप देने के लिए इसमें एक 'ल' और जोड़ दिया हो। जो हो, नेवारी जाति का नेपाल के साथ इतना पुराना सम्बन्ध है कि इसका साक्ष्य इतिहास भी बहुत दूर तक नहीं दे सकता।

नेपाल देश स्वयं बहुत पुराना है। कहते हैं कि इस भू-भाग में पहले एक तालाब था, जिसे कृष्ण ने छूकर सुखा दिया था। आज भी नेपाल की भूमि को कुछ गहराई में खोदने पर काली मिट्टी और वृक्षों की पत्तियाँ मिलती हैं, जो उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करती हैं। काली मिट्टी का उपयोग यहाँ खाद के लिए किया जाता है, इसी लिए इसकी खोदाई का काम भी देश भर में चलता ही रहता है। भूगर्भ-शास्त्र के वेत्ताओं का भी यही मत है कि नेपाल की भूमि पहले जलाशय के रूप में थी। पर जब से यह देश

भूमि के रूप में आया, इसका सम्बन्ध नेवार-जाति से हो गया।

यद्यपि नेपाल की वंशावली में नेवारों को नान्यदेव का वंशज बताया गया है, पर उनकी आकृतियाँ उन्हें मंगोल सिद्ध करती हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि नेवार लोग सीधी पहाड़ से आनेवाली जातियों में नहीं हैं, क्योंकि नेपाल की भूमि से पूर्व चार पहाड़ों के बाहर रहनेवाली तामाङ्, घले, राई और तिम्बु आदि जातियाँ नेवारों से नहीं मिलती। एक इतिहासज्ञ हालेमी नामक हैं, जो इन्हें किरात जाति का समझते हैं। पूर्व-नेपाल की एक जाति अभी तक किरात कहलाती भी है। इन किरातों और नेवारों के रहन-सहन तथा आचार-व्यवहार में बहुत साम्य है। अतः यह अनुमान कि नेवार लोग पूर्व से दीनाजपुर और हिमालय की तराई में होते हुए नेपाल पहुँचे हैं, अधिक गलत नहीं ज्ञात होता। तराई में पहुँचकर सम्भवतः यह जाति दो भागों में बँट गई। एक तो वह जो तराई में ही रहने लगी और दूसरी वह जो वागमती के किनारे-किनारे हरिहरपुर होकर पनौती के रास्ते नेपाल पहुँची।

यद्यपि नेवार लोग पहाड़ी हैं, तथापि इनकी आदतें तराई के निवासियों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। इनकी वर्तमान सामाजिक पद्धति को देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि ये लोग सम्भवतः किसी समय लिच्छवियों के गणतंत्र के वृज्जिसंघ के सदस्य थे। पाली के ग्रंथों में चैत्यों और यक्षों की जो पूजा बताई गई है वह किसी न किसी रूप में नेवार जाति में अब भी मौजूद है। नेवार यक्ष को 'ख्या' कहते हैं। लिच्छवियों के कुछ शिलालेखों में भी नेवारी शब्द मिलते हैं—जैसे, गुम्, तेग्वल, त्रिमी इत्यादि। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि नेवार-जाति उतनी ही पुरानी है, जितनी स्वयं नेपाल की भूमि।

ईसवी प्रथम शताब्दी के आरम्भ में कतिपय कारणों से लिच्छवि-राजवंश को वैशाली छोड़नी पड़ी थी और वह नेपाल की घाटी में चला गया था। उसके राजा जयदेव प्रथम ने तत्कालीन नेवार-राजा को परास्त किया और तब से लिच्छवि-राजवंश वहाँ शासन करने लगा। नेपाल में कुछ कुषाण सिक्के मिले हैं, इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि वहाँ कुछ समय तक कुषाण-,आधिपत्य रहा होगा। बाद में उनके विजेता नागभारशिव के शासन का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा। नेपाल की प्रसिद्ध शैवमूर्त्ति जो पशुपतिनाथ के नाम से प्रसिद्ध है, भारशिव लिंगमूर्त्ति से बहुत मिलती-जुलती है। भारशिवों का स्थापत्य और मूर्त्तिकला का व्यापक प्रभाव पड़ा है, जिसे देखते हुए नेपाल को भी उससे बाहर नहीं माना जा सकता। भारशिवों के साथ-साथ नेपाल में बुद्ध-धर्म का कुछ ह्रास हुआ। लिच्छवि राजा प्रभाकरवर्धन ने शैव-मार्ग को अपनाकर अपने भारादारों के बीच भारतीय संस्कृति के नये प्रभाव को नेपाल में लाने की कोशिश की। इस प्रकार सन् ३४० ई० तक वहाँ शैव मार्ग जम चुका था।

उस समय से सन् १७६७ ई० तक नेवार-जाति का स्वतंत्र इतिहास चलता रहा। फिर यह जाति अँधेरे में पड़ गई। इसलिए नहीं कि तब से नेवार-जाति का अस्तित्व ही उठ गया, प्रत्युत इसलिए कि सन् १७६७ के पश्चात् नेवार-संस्कृति पर जोर का धक्का पहुँचा। अभी तक जो राजवंश राज्य करते थे, लिच्छवि या मल्ल, दोनों अपने को नेवार समझते थे, उन्होंने नेवारी भाषा व नेवारी रीतियों को अपनाया था। पर गोरखा-राजवंश ने भारतीय संस्कार के अनुसार ही चलना पसन्द किया। इसलिए नेवारी संस्कृति के प्रवाह पर एक रोक-सी लग गई।

नेवारियों को तिब्बती कहकर भारत से अलग करने का प्रयास व्यर्थ है। तिब्बतियों के सजातीय होते हुए भी नेवारी भारतीय हैं और उनकी भारतीयता भाषा और खून में न होकर संस्कृति में व्यक्त हुई हैं। नेवारी संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक संस्करण है। उनके ग्रंथ, उनकी पूजा-पद्धति, नियम आदि सब भारतीय हैं। नेवार लोग बौद्ध हिन्दू हैं, किन्तु उन पर बौद्ध-धर्म का इतना प्रभाव है कि महायानी नियम-निष्ठा के साथ तिब्बती लामा-मार्ग का अनुसरण भी प्रचुर मात्रा में वे करते हैं। हिन्दू होने से वे शिव, विष्णु, भगवती की पूजा करते हैं, जैसे अन्य सनातनी भारतीय करते हैं, किन्तु तान्त्रिक दीपङ्कर और कतिपय बोधिसत्वों के साथ महाकाल और अन्य शैवमार्गी देवताओं का भी वहाँ समावेश है। पर जन्मोत्सव और अन्तकाल की क्रियायें सनातनी प्रथा से सर्वथा भिन्न हैं, जो इन्हें हिन्दुओं से पृथक् समझने को बाध्य करती हैं। संभव है कि यह तिब्बत के समीप रहने का प्रभाव हो, यद्यपि, इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। आरंभ में नेवार-जाति अन्य पूर्वी जातियों की भाँति बर्बर, असभ्य और अविश्वासों

से पूर्ण थी। ४०० ई० पूर्व में यह बौद्ध बन गई। अशोक जैसे महापुरुष स्वयं नेपाल गये थे। पश्चात् शुंग और कुषाण-काल में वहाँ महायान का प्रवेश हुआ। बौद्ध-मार्ग के साथ शैवमार्ग भी वहाँ सुशोभित था, यद्यपि इसके अनुयायी अपेक्षाकृत कम थे। लिच्छवि-राज्यकाल में नेवारियों की सहनशीलता ही बौद्ध-धर्म के अनेकानेक मार्गों और शैवमार्ग के विभिन्न वादों को एक साथ गूँथने में समर्थ हुई। इससे एक संयोगात्मक प्रणाली का जन्म हुआ। फल यह हुआ कि आजकल नेवार-समाज उतना ही परिपक्व है, जितना कि एक दृष्टि में अपरिपक्व भी। एक ओर जहाँ दर्शनशास्त्र के अलौकिक चमत्कार मौजूद हैं, कला-कौशल की पराकाष्ठा दीख पड़ती है; वहाँ दूसरी ओर प्राचीन असभ्यता के लक्षण भी कम नहीं हैं। इसके साथ-साथ उस पर तान्त्रिक मार्ग का भी गंभीर प्रभाव पड़ गया है। तन्त्र के साथ नेवारी पूजा-विधि में बहुत ही जटिलता आ गई है—जैसे, अनेकानेक अनावश्यक लम्बी मुद्राओं का प्रयोग और हिंसात्मक बलि, जिसमें क्रूर से क्रूर ढंग का प्रयोग होता है। स्वास्थ्यनाशक आहार भी इस रूढ़िवाद का एक अंग है, जिसने धार्मिक आवश्यकता का रूप ग्रहण कर रक्खा है। नेवार लोग भैंसे को भोजन और बलि के काम में लाते हैं। पर यह बलिदान यंत्रणापूर्ण होता है। जिस देवता को बलि देनी होती है, उसके ठीक सामने भैंसे को उसके चारों पाँव रस्सी से कस करके बेबसी की दशा में गिरा देते हैं। फिर उसके कंठ पर इस तरह धीरे-धीरे छुरी चलाई जाती है कि रुधिर-स्राव मूर्त्ति पर बहुत विलम्ब से जाय। यही एक नहीं, इसी प्रकार के और भी कई क्रम हैं जिन्हें नेपाल अद्यापि बिना किसी परिवर्तन के चला रहा है।

नेवार-जाति का बड़ा भाग अपने को बौद्ध बतलाता है, यद्यपि इस जाति में कुछ संख्या उन लोगों की भी है जो अपने को शिवमार्गी बतलाते हैं और जिनका आचार बौद्धमार्गियों से कुछ भिन्न हैं। उनके पुरोहित ब्राह्मण होते हैं, जिनको देव भाजु या आचार्य (आचाजु) कहते हैं। प्राचीन काल में इनमें जाति-विभाग नहीं था, जैसा कि विभिन्न जातियों के नाम से मालूम होता है। इनके सामाजिक बन्धन के आधार हमारी तरह चार वर्ण और छत्तीस जातियाँ न होकर भिक्षु-समुदाय हैं, जो पहले शाक्य भिक्षु, वज्राचार्य और उदासीन के रूप में मठों में विचरते थे। तन्त्र के प्रभाव और शैवों की प्रबलता से बाध्य होकर जब नेवारियों ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया तब नेवारी समाज में भी सामाजिक कट्टरता आ गई, जिससे भिक्षुओं के विभिन्न दल ब्राह्मणों की तरह समाज के अग्रणी बन गये। केवल निचली श्रेणी, जो आजकल उदास कहलाती है, सामान्य वर्ग में रह गई। नेवारों में क्षत्रिय नहीं हैं, न कोई ऐसा श्रेणी-विभाग है जहाँ हिंसात्मक प्रवृत्ति की बू तक मिले। प्राचीन काल में जिस तरह गुण-कर्म के अनुसार जातियाँ बनी होंगी, वैसी अभी तक मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त अनेक उपजातियाँ भी हैं, जिनका विभाजन सामाजिक कार्यों के आधार पर हुआ है जैसा कि हमारे हिन्दू-समाज में है।

नेवारियों के रस्म-रवाज हमारे निकट कुछ आश्चर्य-जनक हैं और इनमें प्राचीन अन्ध-विश्वासों और तन्त्रों का मिलाप हुआ है। बुद्धमार्ग और शिवमार्ग में विभक्त होने पर भी इन बातों में सब नेवार एक से दीख पड़ते हैं। वैवाहिक पद्धति, खान-पान का तरीका, कर्मकाण्ड की क्रियायें बहुत मिलती-जुलती हैं। नेवारों की शादी में दूल्हा दुलहन के घर पर नहीं जाता। बारात प्रायः रात में जाती है, जो थोड़े ही उपचार के बाद दुलहन को लेकर दूसरे रोज़ तक भोर के पहले ही वापस आ जाती है। दूल्हे के घर आकर दूल्हे को पाने के लिए दुलहन बन्द द्वार को खटखटाती है और वहीं अनेक प्रतिज्ञायें दोनों ओर से की जाती हैं। इसके बाद द्वार खुलता है। नेवारों में तलाक-प्रथा भी है, यद्यपि मर्द ही उसके अधिकारी हैं। स्त्रियाँ उसी दशा में तलाक दे सकती हैं, जब मर्द बहुत बीमार होकर मरणा-सन्न हो या किसी अक्षम्य अपराध के कारण कैदी हो; परन्तु मर जाने के बाद या कैदी होने के बाद ही वह अपनी इच्छा को कार्य में परिणत कर सकती है। स्त्रियों के बारे मे नेवारों की ऐसी धारणा है कि वे कभी विधवा नहीं होतीं। वैधव्य से बचाने के लिए बाल्यकाल में ही उनकी शादी एक बेल-फल से कर दी जाती है और साधारणतया नेवार समझते हैं कि जब तक बेल-फल है तब तक वैधव्य की कोई चिन्ता नहीं है। इनके यहाँ मृत-क्रिया शैवों की तरह बड़ी ही पेचीदा होती है। साथ ही उसमें तिब्बती प्रथा की छाप भी दीख पड़ती है, जैसे शव को अनूठे वाद्यों के साथ घाटों में ले जाना, रोते हुए उसके पीछे चलना, आदि। नेवार शव को जलाते हैं। रुलाई एक विशेष

क्रिया है, जिसमें दूर-दूर तक के रिश्तेदार भाग लेते हैं और यह ११ रोज तक निरवच्छिन्न चलती है। नेवारों की एक विशेष प्रथा है गुट बनाकर भोजन करने की। ऐसे बहुत-से उत्सव-पर्व होते हैं जब बहुत-से नेवार इकट्ठा होकर प्रीति-भोज करते हैं। साल में एक बार दूर-दूर के रिश्ते-दार भी इकट्ठा होते हैं। २० साल में एक ऐसा पर्व आता है जब पूरा नेवार-समाज भाग लेता है। यह पर्व स्वयं भू-नाथ की पूजा के सिलसिले में आता है।

साधारणतः ऐसा कोई सप्ताह न बीतता होगा जो किसी पर्व या उत्सव को न लाता हो। साल वैशाख से शुरू होता है, जैसा कि वहाँ के रहनेवाले पहाड़ी हिन्दुओं का है। वैशाख में प्रत्येक परिवार का वर्षोत्सव होता है, जिसमें वे लोग इष्ट देवता और कुल-देवताओं की पूजा धूम-धाम से करते हैं। प्रत्येक साल का प्रथम पर्व अक्षयतृतीया के साथ शुरू होता है। इसी रोज मत्स्येन्द्रनाथ (पाटन) का रथ पाटन शहर में पहुँचाया जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ नेपाल के बड़े गुरु के रूप में माने जाते हैं। इनका रथ पाटन शहर के मुख्य भागों से चलकर अशोक के मध्वस्तूप के सामने के मैदान में गंगा दशहरे के दिन पहुँचता है और इसी दिन समूची नेवार-जाति इनके दर्शनों के लिए वहाँ जम जाती है। श्रावण कृष्ण चतुर्दशी को घण्टाकर्ण राक्षस की मृत्यु-तिथि मनाई जाती है। राक्षस के रूप में प्रत्येक मुहल्ले में एक मेहतर को खड़ा किया जाता है, जो अनेक गाली के शब्दों के साथ गलियों में माँगता फिरता है। शाम को ५ बजे उसे नदी-तट पर ले जाकर उसके हाथों से राक्षस का एक पुतला जलवाया जाता है। दस दिन नेवार बच्चे बड़े ही खुश दिखाई देते हैं। घण्टाकर्ण चतु-र्दशी के तीसरे रोज से गुलों-धर्म शुरू होता है। पूरे महीने भर बौद्ध नेवार-बाद्यों के साथ बौद्ध-मन्दिरों की परिक्रमा करते हैं। भाद्र कृष्ण प्रतिपदा को गौ-यात्रा मनाई जाती है। नेवारों का विश्वास है कि गौ के रूप में मृत-पितृ निवास करते हैं। मृत्यु के बाद वार्षिक क्रिया का अंग यह भी है कि इसी प्रतिपदा को मृतात्मा के प्रति गौ का जुलूस निकाला जाय। भाद्र शुक्ल पूर्णिमा और उसके बाद ४ रोज तक गणेश, भैरव और कुमारी की पूजा बड़े समारोह के साथ की जाती है। इन देवताओं का नेपाल में विशेष सम्मान होता है। ऐसा कहा जाता है कि प्राचीन काल में स्वयं देवता इन उत्सवों में सम्मिलित होते थे। आजकल वाणा (वज्राचार्य) घर के तीन बच्चे इनका प्रतिनिधित्व करते हैं। एक बच्चा गणेश या भैरव तब तक ही बन सकता है, जब तक उसके दूध के सब दाँत नहीं उखड़ जाते। यही नियम कुमारी बननेवाली लड़की के बारे में लागू है। इनका नेपाल के बड़े महाराज तक आदर करते हैं। विजयादशमी के दिन खड्ग-यात्रा होती है, जिसमें हाथ में खंग लिये कुछ लोग नशे में चूर होकर घूमा करते हैं। एक नेवार ने मुझे बतलाया था कि गोरखा-काल में हथियारों के छिन जाने के बाद यही एक ऐसा मौका है जब नेवार हथियार लेकर घूम सकते हैं। अन्तिम पर्व शलयात्रा (घोड़ा-यात्रा) है। चैत्र कृष्ण अमावस्या को नेपाल-दर्रा की तीन प्रमुख देवियाँ कंकेश्वरी, अन्नपूर्णा, लोमड़ी अपने नगरस्थ प्राचीन घर में आती हैं। रथयात्रा इसी के सिलसिले में होती है। जलयात्रा की मध्य-रात में तीनों रथ मैदान में मिलते हैं। वहाँ चावल का एक ढेर लगाया जाता है। पुराना विश्वास है कि हरिसिंहदेव के साथ आये हुए सिहली राक्षस के लिए यह चावल का ढेर अर्पित किया गया है। इसी रोज टुण्डी खेल में पलटनों की तरफ़ से घुड़दौड़ होती है, जिसके दर्शक के रूप में राजे-महाराजे तक शामिल होते हैं।

नेवार रस्म-रवाजों से जितने आदिम दीख पड़ते हैं, वे उतने ही उद्योग, व्यवसाय या कलाकौशल में उन्नत हैं। नेवार स्वभावतः परिश्रमी और उद्योगी जीव हैं। आज भी नेपाल के बहुत-से उद्योग-धन्धे इनके हाथों में है। समूचा व्यापार और देश का प्रबंध इनके हाथ में है। यह इनकी बुद्धि और परिश्रम का फल है। किन्तु सबसे बड़ा पौरुष नेवारों का नेपाल की वास्तुकला और चित्रकला में मिलता है।

इस प्रकार यह जाति जिसका नेपाल के इतिहास के निर्माण में प्रमुख हाथ रहा है, स्वयं ही इतिहास की बहुत कुछ सामग्री छिपाये हुए है। यदि पुरान्वेषियों की इस ओर प्रवृत्ति हो तो इसमें सन्देह नहीं कि इस जाति के कोष में से हमें कुछ ऐसे रत्न अवश्य मिल जायँगे जिनसे इतिहास का अँधेरा काल बहुत कुछ प्रकाश पा सकेगा।

❀ ❀ ❀

दानवीर देशभक्त शिवप्रसाद गुप्त की स्मृति

श्री मुकन्दीलाल, बी० ए० (आक्सन), बैरिस्टर-एट-ला

मैं तब बनारस के हिन्दू-कालेज में पढ़ता था। देशभक्त त्यागी श्रीप्रकाश मेरे परम मित्र और सहपाठी के द्वारा मेरा परिचय शिवप्रसादजी से हुआ। गुप्तजी तब इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। बनारस आने पर और इलाहाबाद में भी उनके दर्शन मिलते थे।

बनारस से इन्टरमीजियेट पास करके १९०९ में इलाहाबाद आ गया। वहाँ उनसे मिलने का और अधिक अवकाश मिला। किन्तु उन्होंने अध्ययन थोड़े समय के बाद छोड़ दिया।

इस बीच महात्मा गान्धी का आन्दोलन दक्षिण-अफ्रीका में बड़े जोरों में चल रहा था। मैंने महात्मा गान्धी तथा उनके आन्दोलन पर, आनन्दभवन से नेहरू-परिवार की महिलाओं के उद्योग से प्रकाशित होनेवाली मासिक पत्रिका में कई लेख लिखे जो २-३ वर्ष तक निकलते रहे। उनको देखकर शिवप्रसादजी ने मुझसे कहा कि मैं हिन्दी में महात्मा गान्धी की जीवनी पुस्तकाकार छपवा दूँ। अपने व्यय पर, शिवप्रसादजी ने, मेरी लिखी जीवनी जो महात्मा गान्धी का सबसे पहला जीवन-चरित हिन्दी में है, अभ्युदय प्रेस से सन् १९१३ में छपवाया। पुस्तक के प्रकाशित होने तक मैं आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय चला गया था। मेरे विलायत (इँग्लैंड) के प्रवास के समय मेरी लिखी गान्धीजी की जीवनी का सारा संस्करण बिक चुका था और अब तक उसकी एक प्रति भी मुझे नहीं मिली।

शिवप्रसादजी सन् '१४ में योरप-यात्रा के समय लन्दन पधारे। पूज्य देशभक्त लाला लाजपतराय उनके साथ थे। मैं उन दोनों देशभक्तों के दर्शन को आक्सफर्ड से लन्दन आया। वे एक फ्लैट में ठहरे थे। रात को मैं शिवप्रसादजी के ही सोने के कमरे में सोया। वे खर्राटे जोर से लेते थे। मुझे रातभर उनके शेर के से गर्जन से नींद नहीं आई।

इसके बाद उनके दर्शन मुझे विलायत से लौटने के बाद सन् १९१९ में उन्हीं की कोठी में गंगा-किनारे हुए और फिर कई बार उनके घर पर बनारस में या कांग्रेस-कैम्प में उनके दर्शन मिले। कुछ वर्षों तक मैं शिवप्रसादजी से नहीं मिल सका था। १९३६ में अपने सखा श्रीप्रकाशजी के साथ उनसे दिल्ली में मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब मैंने उनका फोटो स्नेप श्रीप्रकाश जी के साथ लिया।

अन्तिम बार मुझे उनके दर्शन २६ जुलाई, १९४३ को उन्हीं की कोठी पर, बनारस में, प्राप्त हुए। मैं उनके दर्शन को ही विशेष रूप से गया था। वे रोग-शय्या पर लेटे थे। जो पहरेदार उनकी देख-रेख को रक्खे गये थे वे मुझे टालना चाहते थे। मैंने अपने पूज्य मित्र के दर्शन करने के लिए आग्रह किया। उन्होंने मेरी आवाज पहचानते ही पुकारा—"मुकन्दी भैया! कहाँ और कैसे आये? आने दो रे।" उनके पलँग के पास बैठकर मैं बातें अच्छी तरह नहीं कर सका। उनकी दशा देखकर मेरा गला भर आया। रोग के कारण वे निःसहाय लेटे हुए थे। यदि मैं मृत्यु के समय शिवप्रसादजी के दर्शन कर सकता। किन्तु मुझे इसी पर सन्तुष्ट होना पड़ेगा, कि कम से कम उनकी मृत्यु से ८-९ महीने पहले उनके दर्शन मुझे मिल गये।

गुप्तजी आज हमारे बीच नहीं, पर उनकी कीर्ति भारतवर्ष के इतिहास में चिरस्थायी रहेगी। वे अद्वितीय दानवीर और देशभक्त थे। उनकी ऐसी देशभक्ति और देशानुराग किसी भी धनी भारतीय देश-भक्त में नहीं देखने में आया। उनका अपना जीवन बड़ा सादा था। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति देश में विद्या-प्रचार और सद्विचारों के प्रचार में लगाई। हिन्दू-विश्वविद्यालय के दानियों में उनका नाम सबसे पहला है। विद्यापीठ, भारतमाता-मन्दिर, उसमें स्थापित पुस्तकालय, दैनिक 'आज', ज्ञान-मण्डल इत्यादि ज्ञानप्रचारक संस्थायें उनके दान के दीप्तिमान उदाहरण हैं। असंख्य विद्यार्थियों की उन्होंने द्रव्य और छात्रवृत्तियाँ देकर सहायता की। देश की राजनीतिक संस्थाओं को किसी न किसी रूप में उनसे बराबर सहायता मिलती रही।

शिवप्रसादजी विचार-स्वातन्त्र्य के हामी थे। वे आर्यसमाजी थे। पर उसके साथ ही वे बड़े उच्च स्वतन्त्र

विचार रखते थे। मैं तो उनकी गिनती चार्वाक-पन्थियों में करता हूँ और उनको अपनी तरह ऐगनास्टिक (चार्वाक) समझता था। वे आरतमाता के पुजारी थे। उनका मजहब था स्वदेश-प्रेम और देशभक्ति।

हिन्दी-भाषा और हिन्दी संवत् के वे प्रचारक थे। वे पत्र सदैव हिन्दी में लिखते थे और हमेशा विक्रम संवत् का प्रयोग करते थे। ईसवी सन् का वे उपयोग नहीं करते थे। उनका कहना था कि ईसवी सन् का सम्बन्ध ईसा मसीह से है। ईसवी सन् को मानना ईसाई धर्म के अस्तित्व को स्वीकार करना है।

महात्मा गान्धी के वे बड़े भक्त थे। पर इसके साथ ही जिन बातों में उनका महात्माजी से मतभेद था, वे अपने मत को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करते थे। उन्हें कौंसिल और एसेम्बली पर जरा भी विश्वास नहीं था। उनमें घुसना समय नष्ट करना उनके नजदीक था।

वे असहयोग-आन्दोलन से पहले से ही स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार करते थे। उनके बदन पर, घर-बाहर सर्वत्र खद्दर ही दिखाई देता था।

शिवप्रसाद गुप्त सरीखा दानवीर कट्टर देशभक्त ढूंढ़ने पर भी सारे देश में नहीं मिलेगा। उनके दान, उच्च स्वतन्त्र विचार और उनकी स्थापित की हुई संस्था ही उनकी स्मृति को कायम रख सकती है।

१९४४

* * *

महाभारत पर विचार

पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

(१)

महाभारत और रामायण हिन्दू धर्म के इतिहास समझे जाते हैं। रामायण के कर्त्ता तो वाल्मीकि ऋषि और महाभारत के वेदव्यास बताये जाते हैं। रामायण के अध्यात्म रामायण आदि अन्य संस्करण भी हैं। पर महाभारत का नहीं है। बंगाल और कुम्भकोणम् के संस्करणों में कुछ अन्तर है सही, पर यह वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणों जैसा नहीं है। किसी में कुछ अध्याय कम और किसी में कुछ अधिक है। इस महाभारत में एक लाख श्लोक हैं और प्राचीन समय से लोग एक लाख श्लोक मानते आते हैं, इसी लिए इसे वेद-व्यासकृत मानते हैं। पूने की भण्डारकर अनुसन्धानशाला ने जो महाभारत निकाला है उसका अस्थायी विराट्पर्व तो हमने देखा था, पर उसका जो अन्तिम रूप बना वह देखने में नहीं आया। जो हो, इस प्रचलित महाभारत का आरम्भ नैमिषारण्य में शौनक के द्वादशवार्षिक यज्ञ में सौति उग्रश्रवा करते हैं। इन्होंने बताया है कि जब व्यासजी महाभारत की रचना करने बैठे तब उन्हें लेखक का प्रयोजन हुआ। इस पर ब्रह्माजी ने उन्हें सुझाया कि आप गणेशजी को लेखक बनाइए। व्यासजी के स्मरण करते ही गणेशजी पहुँच गये और लेखक बनने को भी तैयार हो गये, पर शर्त यह रक्खी कि मेरी कलम न रुकनी चाहिए। इसके बदले में व्यासजी ने यह शर्त रक्खी कि अर्थ समझे बिना आप कुछ न लिखें। दोनों में जब ऐसी शर्तें तय हो चुकीं तब व्यासजी ने बोलना और गणेशजी ने लिखने का लग्गा लगाया। व्यासजी ने देखा कि इनकी कलम न रुकनी चाहिए इसलिए बीच-बीच में ऐसे श्लोक बनाकर रखने लगे जिनका अर्थ समझने में गणेशजी को देर लगे और जितनी देर तक ये अर्थ पर विचार करते, उतनी देर में व्यासजी बहुत से नये श्लोक रच लेते।

ऐसे बहुत से कूट श्लोक महाभारत में हैं जिनका अर्थ साधारण पण्डित ही नहीं, बड़े-बड़े पण्डित भी नहीं समझ सकते। इनके अर्थों की कठिनता का पता इतने से ही लग जायगा कि व्यासजी की उक्ति इनके विषय में यह है कि इनके अर्थ मैं और शुक ही जानते हैं, सञ्जय जानता है या नहीं इसमें सन्देह है। हिन्दी के कवियों में कबीर और सूरदास ने भी इनके अनुकरण पर कुछ कविता रची है। परन्तु व्यास, शुकदेव और सञ्जय अब इस लोक में नहीं हैं।

इससे क्या यह समझना चाहिए कि उक्त कूट श्लोकों के अर्थों का जानकार कोई नहीं रहा ? वास्तव में यह बात नहीं। कूट श्लोकों की महिमा बढ़ाने के लिए ही यह बात कही गई है। नेपाल के राजगुरु पण्डित श्री हेमराज शर्मा से लेखक को मालूम हुआ है कि नेपाल में महाभारत की जो ताड़-पत्रों पर हस्तलिखित प्राचीन प्रति मिली है उसमें यह गणेश प्रकरण नहीं है। इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या यह गणेश प्रकरण पीछे से मिलाया गया है। भण्डारकर अनुसन्धानशाला से प्रकाशित महाभारत में देखना चाहिए कि यह प्रकरण है या नहीं। और न हो तो नेपाल के प्रति का समर्थन समझना चाहिए।

उपलब्ध महाभारत के आदिपर्व के प्रथम अध्याय में यह कहकर लोग चक्कर में डाल दिये गये हैं कि कोई लोग तो महाभारत का आरम्भ 'नारायणं नमस्कृत्य' अर्थात् आदिश्लोक से मानते हैं, कोई आस्तीकोपाख्यान से और उपरिचर के आख्यान से। यदि सारा महाभारत व्यासकृत होता तो इसका आरम्भ कहाँ से है इस विषय में एक ही मत होता। पर तीन मतों से यह संशय होता है कि यह सारा व्यासकृत नहीं है। आस्तीपोख्यान १३ वें अध्याय से और उपरिचर का ६३ वें अध्याय से आरम्भ है। इसलिए किसी के मत से आदि के १२ और किसी के मत से आदि के ६२ अध्याय व्यासकृत नहीं हैं। यह किसी अँगरेजी पढ़े-लिखे की कही बात नहीं है, खास महाभारत में ही लिखी हैं। इससे किसी को इसमें सन्देह न होना चाहिए कि आदिपर्व का पहला अध्याय जब रचा गया था, उसके पहले ही तीन मत थे। ऐसा न होता तो प्रथम अध्याय में उसका उल्लेख कहाँ से आता ?

स्वर्गीय चिन्तामणि विनायक वैद्य ने महाभारत के आधार पर ही यह कहा है कि इस महाभारत के तीन संस्करण हुए हैं। पहला कुरुक्षेत्र-युद्ध और उसके फल—पण्डवों की जीत—के सम्बन्ध में व्यासदेवकृत है। इसमें २४००० श्लोक हैं। दूसरा वैशम्पायन-कृत वह काव्य है जो इन्होंने जनमेजय पारिक्षित को सर्पसत्र में सुनाया था। इस अवसर पर इसे 'भारत' नाम दिया गया, क्योंकि इसमें भरतों-भरतवंशियों का वर्णन है और तीसरा सौति उग्रश्रवा-कृत यह काव्य है जो शौनक के यज्ञ में पढ़ा गया था। यह महाभारत है। इस महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। महाभारत का नाम भारत है यह तो महाभारत से जाना जाता है, क्योंकि पर्व-समाप्ति-सूचक संकल्प में 'भारतसंहिता' रूप से यह ग्रन्थ बताया गया है और आदिपर्व में यह भी है कि इसका एक नाम 'जय' भी है तथा 'ततो जयमुदीरयेत्' से इसका जय नाम स्पष्ट भी होता है।

आदिपर्व के कई अध्यायों के बाद जनमेजय सर्पयज्ञ का विचार करते हैं। इस सर्पयज्ञ की आधार-शिला कद्रु का अपने उन सर्पपुत्रों को शाप देना है जो विनता को हराने के लिए घोड़े की पूँछ काली करने को तैयार नहीं हुए। दूसरा कारण तक्षक का उत्तंक के लाये हुए कुण्डलों को ले भागना और तीसरा साँप का परीक्षित को डसना है। सर्पयज्ञ में जिस प्रकार बाधा पड़े इसके लिए जरत्कारु को ब्याह करने के लिए बाध्य कर आस्तीक के जन्म की व्यवस्था करना यह इस जंजीर की दूसरी लड़ी है, क्योंकि आस्तीक ने ही जनमेजय से कहकर सर्पसत्र बन्द कराया था। इसी सर्पसत्र में वैशम्पायन ने व्यासकृत भारतसंहिता अथवा जयकाव्य जनमेजय को सुनाया था। इससे वैशम्पायन का वर्णित यह काव्य व्यासजी के ग्रन्थ का परिवर्द्धित संस्करण हुआ और परिवर्द्धित संस्करण में जैसा होता है, कुछ बातें मिलाई ही जाती हैं।

व्यासजी ने जो काव्य लिखा था वह इस ऊपर के विवेचन से, कुरुक्षेत्र-युद्ध की तैयारी और वास्तविक युद्ध से ही सम्बन्ध रखता था और पाण्डवों की जीत का वर्णन होने के कारण इसका नाम जय रक्खा जाना उचित ही था। वैशम्पायन ने अवस्था के अनुसार उसमें अपनी भूमिका ही नहीं बढ़ाई बल्कि बीच-बीच में और भी अनेक उपाख्यान रख दिये और चूंकि वह मूल में व्यासकृत था और उसका सम्बन्ध भरतवंश से था, इसलिए उसका नाम भारत रखकर भी उसे व्यासकृत भी कहा। सौति उग्रश्रवा ने जब शौनक के द्वादशवार्षिक यज्ञ में उसे सुनाया तब स्वभावतः उन्होंने वैशम्पायन की भारतसंहिता ज्यों की त्यों सुनाने के बदले सर्पयज्ञ के कारणों की भी चर्चा की, जिनका वैशम्पायन के संस्करण में कोई उल्लेख नहीं था। और हो भी कैसे सकता था ? इस प्रकार वैशम्पायन की भारत-संहिता ने महाभारत का रूप धारण किया। स्वर्गीय रावबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार महाभारत का वर्त्तमान संस्करण तीसरा है।

(२)

महाभारत के एकाधिक कर्त्ताओं की बात यद्यपि संस्कृत के प्राचीन ढंग के पण्डितों के विचारों के प्रतिकूल है, तथापि प्राच्य इतिहास के शोधक एतद्देशीय विद्वानों में कदाचित् ऐसा एक भी नहीं है जो यह न मानता हो कि सारा महाभारत वेदव्यासकृत नहीं है। कितने ही तो निःसंकोच कहते हैं कि 'महाभारत की रचना एक आदमी द्वारा नहीं हुई है।' हम कहते हैं कि व्यासजी ने जिस ग्रन्थ की रचना की थी उसका नाम 'जय' था और उसमें कुरुक्षेत्र-युद्ध और उसके परिणाम का वर्णन मात्र था तथा उसमें केवल २४००० श्लोक थे। इसके प्रचुर प्रमाण आदिपर्व में मिलते हैं। वहाँ कहा गया है—'जयो नामेतिहासोऽयम्' और प्रथमाध्याय में लिखा है—

दुर्वृत्तं धार्त्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवान् ऋषिः।
इदं शतसहस्रन्तु लोकानां पुण्यकर्मणाम् ॥१०१॥
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्।
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्॥१०२॥

इन दोनों श्लोकों से स्पष्ट होता है कि २४००० श्लोकों की भारत-संहिता में व्यास ऋषि ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के दुराचरण का वर्णन किया और पुण्यात्मा लोगों के उपाख्यानों सहित इसे एक लाख श्लोकों की जानना चाहिए।

महाभारत के भिन्न-भिन्न स्थलों में अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे कोई निरपेक्ष मनुष्य इस निर्णय पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि सारा महाभारत एक मनुष्य ने नहीं रचा। हम सरसरी तौर पर दो प्रमाण देते हैं। आयोद धौम्य के प्रशिष्य और वेद के शिष्य उत्तंक की कथा आदिपर्व में आई है। ये उत्तंक पारिक्षित् जनमेजय के सहाध्यायी थे। गुरु-दक्षिणा के लिए इनके लाये हुए कुण्डल चुराकर तक्षक पाताल चला गया था, जहाँ से बड़े कष्ट और उद्योग से इन्होंने उनका उद्धार किया था। इस घटना से तक्षक ही नहीं, नाग मात्र पर उत्तंक को क्रोध आना स्वाभाविक था। इधर परीक्षित् को साँप ने डस लिया था, इसलिए जनमेजय का तो नागों या साँपों से बाप मारे का बैर था ही। इस प्रकार नाग दोनों के समान शत्रु थे और इसलिए उत्तंक जनमेजय को सर्पसत्र वा नागयज्ञ करने के लिए उकसाने में समर्थ हुए थे। परन्तु वनपर्व के २०२वें अध्याय में हम पढ़ते हैं कि इक्ष्वाकु से बारहवीं पीढ़ी में कुवलाश्व राजा हुआ, जिससे जाकर उत्तंक ने धुन्धु दैत्य को मारने की प्रार्थना की थी। इन दोनों घटनाओं के सन्-संवत् अनुपलब्ध होने पर भी दोनों में बड़ा अन्तर है। प्रश्न होता है कि क्या दोनों वर्णनों का सम्बन्ध एक ही उत्तंक से है।

प्राचीन पुरुषों का जहाँ कहीं वर्णन आता है, वहाँ उनके बाप का नाम तो शायद ही कभी लिखा मिलता है, बहुत करके माता या गुरु के नाम से ही उनका परिचय दिया जाता है। परन्तु दूसरे वर्णन में न गुरु का नाम है और न माता या पिता का। यदि सारा महाभारत एक ही आदमी ने रचा होता तो यहाँ इस दूसरे उत्तंक का कुछ हाल तो अवश्य लिखता; क्योंकि दोनों कार्य एक ही मनुष्य के माने नहीं जा सकते। जो उत्तंक जनमेजय के राज्य में कलियुग में जवान था, वह इक्ष्वाकु से बारहवीं पीढ़ी में कुवलाश्व से धुन्धु को मारने की प्रार्थना कभी नहीं कर सकता। श्रीयुक्त पण्डित शशिभूषण विद्यालंकार महाशयकृत 'जीवनीकोष' में भी हम इस दूसरे उत्तंक को नहीं पाते। इसलिए इस परिणाम पर पहुँचे बिना गति ही नहीं है कि दोनों उपाख्यान एक ही मनुष्य ने नहीं कहे हैं। सावधान मनुष्य कभी ऐसी भूल नहीं कर सकता।

दूसरा प्रमाण है वशिष्ठ की कथा का। सम्भवपर्व अध्याय ६५वें में लिखा है—"सबसे पहले ब्रह्मा के मन से मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ये छः महर्षि उत्पन्न हुए।" परन्तु १७७वें अध्याय में हमें यह लिखा मिलता है कि वशिष्ठ ब्रह्मा के मानस-पुत्र और अरुन्धती के पति थे। एक ही लेखक या वक्ता अपने एक ही लेख में दो तरह की बातें नहीं कह सकता। सप्तर्षि ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे, यह कहनेवाला कैसे कह सकता है कि छः ऋषि ही पहले ब्रह्मा के मन से उत्पन्न हुए। हम समझते हैं, 'पहले' शब्द पर जोर देने की हास्यास्पद चेष्टा कोई न करेगा।

अब जरा विचार कीजिए कि २४,००० श्लोकोंवाला जयग्रन्थ या भारतसंहिता कहाँ से कहाँ तक है। सारा महाभारत एक लाख श्लोकों का बताया जाता है, परन्तु अनुक्रमणिकाध्याय के अनुसार कुल ८४,२४४ ही श्लोक ठहरते हैं। व्यासजी का ग्रन्थ महाभारत नहीं है, यह भीष्मपर्व के दूसरे अध्याय में व्यासजी के धृतराष्ट्र से कहे इस वचन से प्रमाणित होता है कि "मैं शीघ्र ही पाण्डवों और कौरवों की इस कीर्ति को ग्रन्थ बनाकर प्रसिद्ध कर दूँगा।" अस्तु, अनुक्रमणिकाध्याय के अनुसार भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य पर्व में २२,९७७ श्लोक हैं और सौप्तिकपर्व के अध्यायों

में ५२६ श्लोक हैं। पर इनसे भीष्मपर्व के आरम्भ के १५ अध्यायों के ४८८ श्लोक निकाल डालने से २३,०१५ श्लोक रह जाते हैं। यही व्यासकृत जयकाव्य है। प्रश्न हो सकता है कि इसके ९८५ श्लोक कहाँ गये ? इसका उत्तर है कि जहाँ महाभारत के १५,७५६ श्लोक गये, वहीं ये भी चले गये। इस प्रकार महाभारत में २३,०१५ श्लोक तो व्यासजी के हैं और ६१,२२९ और लोगों के। इनमें वैशम्पायन, सौति उग्रश्रवा आदि हैं। आदि में कौन-कौन हैं यह कहना असम्भव है।

अब पहले हमें कुरुक्षेत्र-युद्ध के इतिहास के मूल कारण पर विचार करना है। शन्तनु के पुत्र देवव्रत भीष्म ने पिता का हित करने के अभिप्राय से जो त्याग किया वह संसार के इतिहास में अभूतपूर्व है। भीष्म ने न कभी विवाह का विचार किया और न राज्य का और इसलिए काशिराज की कन्याओं का हरण भी उन्होंने राज्य के अधिकारी अपने भाई के लिए ही किया था और जब भाई विचित्रवीर्य मर गया तब उन्होंने अपनी भौजाइयों से नियोग करना भी अस्वीकार किया और व्यासजी से वह कार्य कराया। उस समय छोट देवर से ही नहीं, बड़े देवर या जेठ से भी नियोग करने की चाल थी। धृतराष्ट्र और पाण्डु जब दो लड़के विचित्र-वीर्य की पत्नियों ने पैदा किये तब बड़े धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण सिंहासन के अधिकारी नहीं समझे गये और पाण्डु राजा बनाये गये।

यहाँ तक तो सब ठीक रहा, पर पाण्डु के मरने के बाद क्यों, पहले से ही कुछ गड़बड़ी पैदा हो गई थी। उद्योगपर्व के १४८वें अध्याय में द्रोणाचार्य के कथन से हम जान सके हैं कि "उन्होंने (पाण्डु ने) छोटे भाई विदुर और बड़े भाई धृतराष्ट्र को राज्य का सब काम सौंप दिया और आप दोनों स्त्रियों को साथ लेकर वन को चले गये। बुद्धिमान् विदुर विनीत भाव से सिंहासन के नीचे बैठकर धृतराष्ट्र की सेवा करने और चँवर डुलाने लगे। सारी प्रजा भी महाराज धृतराष्ट्र को राजा समझकर सम्मान करने लगी। इस प्रकार और पाण्डु राजा धृतराष्ट्र और विदुर को धरोहर के तौर राज्य सौंप कर पृथ्वी पर विचरने लगे। खजाना जमा करना, धन देना, सेवक की देख-रेख और सबका भरण-पोषण ये काम ईमानदार विदुर के सिर आ पड़े। शत्रुदमन-भीष्म ने सन्धिविग्रह और राजाओं से व्यवहार आदि का भार अपने ऊपर ले लिया। महाबली धृतराष्ट्र गद्दी पर बैठ कर विदुर की सहायता से राज्य के सब काम करने लगे। तुम्हारे पिता और चाचा ने यों मिलकर राज्य की रक्षा की है।"

इससे सिद्ध हुआ कि धृतराष्ट्र झूठमूठ के राजा बना दिये गये और उस समय के भीष्म आदि मन्त्रियों ने भी धृतराष्ट्र को गद्दी से हटाकर युधिष्ठिर को सिंहासन पर बैठाने के अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। इसी से कुरुक्षेत्र का महाभयंकर युद्ध हुआ। भीष्म पितामह को सम्बोधन करके विदुर ने कहा—"मैं बार बार चिल्लाकर कह रहा हूँ, पर आप उपेक्षा कर रहे हैं। श्रेष्ठ कुरुकुल में इस कुलांगार दुर्योधन को क्या अधिकार है ? यह होता कौन है? × × × जो आप समझते हैं कि कुल का नाश होने ही वाला है और आपकी बुद्धि नष्ट हो गई हो तो मुझे और धृतराष्ट्र को साथ लेकर वन को चल दीजिए, नहीं तो कपटी दुर्योधन को जेल में डाल दीजिए और पाण्डवों के साथ स्वयं इस साम्राज्य की रक्षा कीजिए।" पर क्या भीष्म ने इस पर ध्यान दिया ? नहीं; इसके विपरीत वे कुरुक्षेत्र में कौरवों की ओर से प्रधान सेनापति बनकर युद्ध करने लगे। हमें आश्चर्य तो तब हुआ जब भीष्म और द्रोण दोनों ने युधिष्ठिर से कहा कि 'राजन् , यह सच है कि मनुष्य धन का दास है, धन किसी का दास नहीं है। मुझे धन से ही कौरवों ने अधीन कर रक्खा है।' यही द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ने भी कहा। सचमुच यह कथन उनका 'नामर्दी' का सा ही था।

यदि राज्य कौरवों का होता तो द्रोणाचार्य और कृपाचार्य भले ही ऐसा कह सकते थे, भीष्म के योग्य तो तब भी यह कथन था ही नहीं। परन्तु राज्य उनका न होने पर भी राज्य-शास्त्र-प्रणेता कौणपदन्त भीष्म और द्रोण भारद्वाज का इस प्रकार अपने कर्तव्य-पालन से विमुख होना यह बताता है कि कुरुक्षेत्र युद्ध का कारण दुर्योधन और धृतराष्ट्र की अपेक्षा भीष्म और द्रोण ही अधिक थे। यदि ये अपने कर्त्तव्य का पालन करते तो यह युद्ध कदापि न होता। पर इन्हें कर्म और अकर्म के ज्ञान ने छोड़ दिया था। भीष्म, द्रोण आदि के सामने ही दुःशासन ने द्रौपदी को अपमानित किया, पर इन्होंने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया। पाण्डवों के साथ जो छल दुर्योधनादि ने किया, उसकी ओर भी इनका दुर्लक्ष्य ही रहा और अन्त में कौरवों के प्रधान सेनापति बनकर भीष्म ने जो पाप किया उसका कोई प्रायश्चित्त

ही नहीं था। यदि दुर्योधनादि कौरव जानते कि भीष्म-द्रोण हमारी ओर से न लड़ेंगे तो क्या कभी वे युद्ध छेड़ने का साहस करते? कर्ण और शकुनि के बल पर युद्ध न जीता जायगा, यह दुर्योधन को मालूम था; क्योंकि उसने रणक्षेत्र में ही भीष्म को उलाहना देते हुए कहा था कि "पहले सलाह के समय ही आपको कह देना था कि 'मैं धृष्टद्युम्न, सात्यकि और पाण्डवों से युद्ध न करूँगा।' मैंने केवल आपके और द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य के वचनों पर भरोसा करके कर्ण से कर्त्तव्य की सलाह करके यह युद्ध छेड़ा है।" (भीष्म पर्व अ० ५८)।

भीष्म को जब श्रीकृष्ण मारने दौड़े तब भीष्म ने उनका स्वागत करते हुए कहा—"आप मुझे मारने दौड़े, इससे मेरी प्रतिष्ठा और कीर्ति और भी बढ़ गई।" उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—"हे भीष्म, तुम्हीं इस महा-विनाश के कारण हो। तुम्हारे ही कारण आज दुर्योधन भाई-बन्धुओं सहित विनष्ट होगा। हे भीष्म, द्यूत में आसक्त राजा को उससे रोकना ही धार्मिक मन्त्रियों का कर्त्तव्य है। यदि कोई राजा काल-विपर्यय के कारण उस उपदेश को न मानकर धर्मविरुद्ध कार्य न छोड़ना चाहे तो उसको छोड़ देना ही श्रेयस्कर होता है।" यही वास्तविक राजनीतिज्ञता है, पर भीष्म ने जो उत्तर दिया, वह राजनीतिज्ञ का नहीं, नपुंसक का उत्तर था। उन्होंने कहा—"मैंने हितकामना से बारम्बार धृतराष्ट्र से कहा कि यादवों ने अपने हित के लिए कंस को छोड़ दिया, तुम भी दुर्योधन को त्याग दो। पर उन्होंने दैववश बुद्धि विपरीत होने से मेरा वह हितोपदेश नहीं सुना।"

परन्तु हम देखते हैं कि दैववश भीष्म की भी बुद्धि विपरीत थी। धृतराष्ट्र को अन्धे होने के कारण गद्दी नहीं मिली थी। वह तो पाण्डु के चले जाने पर गद्दी पर बैठे या बैठाये गये थे। धर्मतः उनका कोई अधिकार न था। आदिपर्व के १४५वें अध्याय में बताया गया है कि दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से एकान्त में कहा—"यदि आप पहले राज्य पाते तो हम भी राजा होते।" अर्थात् न धृतराष्ट्र राजा थे और न दुर्योधन राजा हो सकता था। ऐसी दशा में भीष्म का कर्त्तव्य स्पष्ट था। उन्हें धृतराष्ट्र से कहना था कि यह राज्य पाण्डु की 'धरोहर' है और यद्यपि पाण्डु का देहान्त हो गया है, तथापि उनके पुत्र युधिष्ठिर के रहते तुम गद्दी पर अब नहीं बैठ सकते। और युधिष्ठिर का अभिषेक करते। पर उन्होंने यह तो किया ही नहीं, कौरवों के अन्याय-अत्याचार होने दिये और अनधिकारी दुर्योधन को राजा मानकर समय समय पर उसके कार्यों की मौखिक आलोचना करके शान्त होने लगे।

इससे स्पष्ट होता है कि राजनीति का व्यावहारिक ज्ञान केवल श्रीकृष्ण और विदुर को ही था। विदुर ज्ञानी होने पर भी दासी-पुत्र थे, इसलिए इनकी आवाज बहुत धीमी थी। जो कुछ हितवाणी ये बोलते थे वह सुन तो ली जाती थी, पर सुनी अनसुनी कर दी जाती थी। भीष्म, जिनकी वाणी और शरीर दोनों में बल था और जिनके पुरुषार्थ से कुरुराज्य खड़ा हुआ था, ऐसे समय कर्त्तव्य को अकर्तव्य और अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य मान बैठे थे। उन्होंने धृतराष्ट्र और दुर्योधन को अनधिकारी रहने पर भी अपने हितों की जड़ जमा लेने दी। सच पूछा जाय तो धृतराष्ट्र और दुर्योधन दोनों को राजा मानकर भीष्म ने जो अदूरदर्शिता प्रदर्शित की उससे उनका राज्य का त्याग और ब्रह्मचर्यव्रत निष्फल हो गया, क्योंकि जिस गृहयुद्ध को रोकने के लिए उन्होंने ये उपाय किये थे, उसी के सहायक वे आप बन गये। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य उसी परिमाण में दोषी नहीं हैं। पर ये निर्दोष नहीं कहे जा सकते। इतिहास इस अकर्त्तव्य के लिए भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य को क्षमा नहीं कर सकता। आश्चर्य है कि महाभारत के आलोचकों ने भीष्म के चरित्र के इस पहलू पर बिलकुल ध्यान ही नहीं दिया।

१९४४

❀ ❀ ❀

हिन्दी भाषा का प्रदेश

पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय, एम० ए०

वर्तमान हिन्दी भाषा का मूल खड़ी बोली है। अतएव हिन्दी भाषा का मूलदेश वही समझा जायगा जो खड़ी बोली का देश होगा। खड़ी बोली के देश का पता लगाने के पहले खड़ी बोली का भेद समझ लेना चाहिए। खड़ी बोली सचमुच एक विलक्षण नाम है। भाषा का कहीं खड़ा-पड़ा भी नाम होता है? जो हो, यह नाम हमारे सामने है। इसकी निरुक्ति पर विचार करना ही होगा। स्वर्गीय श्री गुलेरीजी का कहना है—"विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया।" अपने विनोदात्मक ढंग पर गुलेरीजी ने 'पड़ी' और 'लश्कर' शब्दों में कुछ रेखता और उर्दू की भी झाँकी दिखा दी या नहीं, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। कारण यह है कि रेखता का एक अर्थ गिरी पड़ी और उर्दू का लश्करगाह होता है। यदि इस 'पड़ी' को रेखता का वाचक समझें तो इससे खड़ी बोली की निरुक्ति में कुछ मदद मिल सकती है, अन्यथा नहीं। गुलेरीजी ने विदेशी मुसलमानों का नाम लिया है और स्पष्ट कहा है—"मुसलमानों में बहुतों की घर की बोली खड़ी बोली है।" परन्तु मुसलमान इस शब्द का आदर नहीं करते। मौलाना अब्दुल हक साहब फरमाते हैं—"खड़ी बोली के माने हिन्दोस्तान में आम तौर पर गँवारी बोली के हैं जिसे हिन्दोस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है; वह न कोई ख़ास ज़बान है और न ज़बान की कोई शाख़।" मौलाना साहब के इस 'हिन्दोस्तान' का मतलब समझ लेना आसान नहीं। क़ारण, हम भली भाँति जानते हैं कि खड़ी बोली का प्रयोग उर्दू में भी उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में हिन्दी में किया जाता है। आज से पचास-साठ वर्ष पहले मौलाना 'सफ़ीर' ने कहा था—"अब इस नई जबान को जिसको फारसी और अरबी मिली हिन्दी कहो, चाहे हिन्दुस्तानी भाखा कहो, चाहे ब्रजभाषा रेखता कहो, चाहे खरी बोली उर्दू कहो, चाहे उर्दू-ए-मुअल्ला। इसके तुख़्म उसी वक्त से बोये गये जब से अह्ल इसलाम की इस मुल्क पर तवज्जह हुई।" सफ़ीर साहब वस्तुतः खरी बोली लिखना चाहते थे या प्रमादवश 'खड़ी' का 'खरी' हो गया यह हम निश्चित रूप में नहीं कह सकते; पर इतना अवश्य कहते हैं कि यह 'खरी बोली' मौलाना हक के "बच्चा-बच्चा" के लिए काफ़ी है। और उनके लिए डाक्टर कादिरी का यह कथन पर्याप्त है—"उसकी सूरत खड़ी बोली से ज्यादह मुतासिर मालूम होती है और इसके बरखिलाफ दक्खिनी नसर की सूरत कम-वो-बेश पंजाबी से मुशाबः है।" सन्तोष न हो तो फिर इस पर भी गौर फरमाइए—"यह यकीन के साथ नहीं कहा जा सकता कि जिस जबान में वह शेरगोई करता था वह वही थी जो आम तौर पर हिन्दू-मुसलमान बोलते थे। दोहरों और पहेलियों से किता नज़र जो कम-वो-बेश खड़ी बोली में लिखी गई हैं, इसके बाज़ अशआर कदीम दक्खिनी शाइरी के मुशाबः हैं।" कौन है जो इतने पर भी दावे के साथ कह सकता है कि खड़ीबोली के माने 'गँवारी बोली' के हैं और वह न कोई 'खास ज़बान' है और न 'ज़बान की कोई शाख़'। क्या कहा, मौलाना हक़? हरगिज़ नहीं। उनका अब कहना है—"खड़ी बोली में इब्तदा में किसी क़िस्म का अदब नहीं मिलता। इसके यही माने होते हैं कि खड़ी बोली बोलने की ज़बान ज़रूर थी, लेकिन वह अदबी जबान न थी। मुसलमानों ने इस जबान को तरक्की दी और उसे एक अदबी साँचे में ढाल दिया।" यानी मुसलमानों ने खड़ी बोली को अपनाया और उसे उर्दू बना लिया। निदान खड़ी बोली गँवारी बोली नहीं, बल्कि मुसलमानों की जबान हुई। इस प्रकार मौलाना हक भी इस बात के कायल हुए कि "मुसलमानों में बहुतों की घर की बोली खड़ी बोली है।" रही हिन्दुओं की बात। इसके सम्बन्ध में श्री भारतेन्दुजी का कहना है—"इन अगरवालों का संक्षेप वृत्तान्त इस स्थान पर लिखा जाता है। इनका मुख्य देश पश्चिमोत्तर प्रान्त है और इनकी बोली स्त्री और पुरुष सबकी खड़ी बोली अर्थात् उर्दू है।" बस इन सभी सन्दर्भों से सिद्ध है कि वस्तुतः खड़ी बोली एक खास ज़बान है, जिसको हिन्दू-मुसलमान सभी बोलते और अपनाते हैं।

अच्छा तो खड़ी बोली की निरुक्ति के बारे में मौलाना

हक़ का अब यह दावा है कि "इसका नाम खड़ी बोली इसलिए रक्खा गया था कि यह बोली सख्त थी और कानों को उतनी मीठी नहीं मालूम होती थी" जितनी कि व्रजभाषा। तो मौलाना साहब ने निश्चय ही खड़ी शब्द को कड़ी का वाचक बना दिया और उसका अर्थ किया सख्त। परन्तु डाक्टर धीरेन्द्र वर्म्मा ने इस शब्द को हाथ से जाने न दिया और कदाचित् के साथ कहा—"व्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी-खड़ी लगती है। कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा।" श्री कामताप्रसाद गुरु ने भी इसी 'खड़ी-खड़ी' को पकड़ा और स्पष्ट किया—"व्रजभाषा के ओकारान्त रूपों से मिलान करने पर हिन्दी के आकारान्त रूप खड़े जान पड़ते हैं। बुन्देलखण्ड में इस भाषा को 'ठाढ़ बोली' या तुर्की कहते हैं।" तथा "मारवाड़ी में खड़ीबोली को 'ठाठ बोली' कहा जाता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ी बोली के खड़ी शब्द को सभी पकड़ते हैं और उसके खड़े अर्थ को ही साधु समझते हैं। उनकी दृष्टि में इस खड़ा का अर्थ है कर्कश या लट्ठमार बोली। खड़ी बोली की इस कर्कशता का अधिकाधिक उद्घाटन हुआ है व्रजभाषा के साथ इसके द्वन्द्व में और इसके बाद ही विचार किया गया है खड़ी बोली की इस 'खड़ी-खड़ी' निरुक्ति पर। तो इसके पहले लोग इस शब्द की व्याख्या किस प्रकार करते थे, कुछ इसका भी विचार होना चाहिए।

हाँ, तो खड़ी बोली का सबसे प्राचीन प्रयोग जो अभी तक प्राप्त हुआ है श्री लल्लूजीलाल का है। प्रेमसागर की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है—"औ श्रीयुत गुन-गाहक गुनियन-सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्री लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र अवदीच आगरेवाले ने विसका सार ले, यामनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम 'प्रेमसागर' धरा।" इस अवतरण में 'यामनी भाषा', दिल्ली-आगरा और खड़ी बोली का प्रयोग विचारणीय है। श्री लल्लूजीलाल ने खड़ी बोली के साथ दिल्ली-आगरे का नाम क्यों लिया और 'यामनी भाषा छोड़' क्यों कहा? सदल मिश्र की भाँति केवल 'खड़ी बोली' का प्रयोग क्यों नहीं किया? सदल मिश्र का काम तो "अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चन्द्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई-कोई समझ नहीं सकता इसलिए खड़ी बोली में किया" से चल गया, पर लल्लूजी को 'यामनी भाषा छोड़' और 'दिल्ली-आगरे' का भी उल्लेख करना पड़ा। वह भी उसी संवत् १८६० में। इसका रहस्य क्या है? क्या इसे हम श्री लल्लूजी का प्रमाद समझ लें? नहीं, हम ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि हम जानते हैं कि आगे चलकर स्वयं श्री लल्लूजी ने केवल खड़ी बोली का प्रयोग किया है। उनका कहना है—"जो पोथियाँ व्रजभाषा औ खड़ी बोली औ रेख़ते की बनाईं सो सब प्रसिद्ध हैं।" रेख़ते के विषय में वे कहते हैं—"एक दिन साहिब ने कहा कि व्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेख़ते की बोली में कहो। मैंने कहा बहुत अच्छा, पर इसके लिए कोई पारसी लिखनेवाला दीजे, तौ भली भाँति लिखी जाय।" मजहर अली खाँ 'बिला' श्री लल्लूजी की मदद के लिए तैयार हुए। उनसे कहा गया कि जो अनुवाद हो "व्रज की बोली अक्सर उसमें रहे।" इस प्रकार हम देखते हैं कि बोली शब्द का व्यवहार बराबर किया गया है और भाषा की अपेक्षा बोली में लिखने पर अधिक जोर भी दिया गया है। निदान खड़ी बोली के बोली शब्द पर विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है खड़ी शब्द पर ध्यान देने की। 'खड़ी' शब्द का प्रयोग प्रेमसागर में अन्यत्र भी मिलता है पर उसका अर्थ इससे सर्वथा भिन्न 'खड़िया' बताया गया है। कहते हैं "तिनके साथ सब ग्वाल-बाल भी अपने-अपने . . . बछरू चरने को छोड़-छोड़, लगे खड़ी गेरू से तन चीत-चीत वन के फल-फूलों के गहने बनाय-बनाय पहन-पहन खेलने।" 'चीत-चीत' से 'खड़ी गेरू' का अर्थ लिया गया है खड़िया और गेरू न कि खड़ी गेरू जिसमें खड़ी को हम गेरू का विशेषण कह सकें। परन्तु हमारी धारणा कुछ और है। हम यहाँ भी 'खड़ी' को 'गेरू' का विशेषण ही मानते हैं और यहाँ भी इसका अर्थ प्राकृत ही लगाते हैं। ग्वालबाल जहाँ कहीं जैसी भी गेरू पा जाते उसे उठाकर उससे तन चीतते कुछ रंग-बिरंगे साज नहीं सजते थे। कहने की बात नहीं कि जैसी स्वाभाविकता 'खड़ी' के इस अर्थ में है वैसी 'खड़िया' में नहीं।

'खड़ी' की 'खड़ी-खड़ी' व्याख्या की चर्चा पहले ही हो चुकी है। यहाँ अब कुछ खरी-खरी पर भी विचार होना चाहिए। तो यदि हम खड़ी-खड़ी को देशी और

खरी-खरी को विदेशी व्याख्या कहें तो इसमें कुछ अनुचित न होगा। अनेक विदेशी विद्वानों ने खड़ी को खरी मानकर इसका अर्थ शुद्ध किया है। इस शुद्ध की प्रेरणा 'यामनी भाषा छोड़' में मिली है। उसी के इशारे पर खड़ी को खरी कर दिया गया है। एक सज्जन ने तो खड़ी को खरी का भ्रष्ट रूप बताने की कृपा की है। खड़ा शब्द पर विचार करते समय इस्टविक साहब ने लिखा है--"खड़ा, Erect, upright, steep, standing 2. Genuine, pure when it= खरा kharā". यद्यपि kharā में ड़ है, फिर भी हिन्दी में स्पष्ट 'खरा' लिखा गया है, जिसका आशय है कि जब खड़ा का अर्थ खरा होता है तब वह शुद्ध का वाचक हो जाता है। परन्तु खड़ी बोली की व्याख्या करते समय उक्त साहब ने 'खरी' का प्रयोग नहीं किया है और लिखा है "खड़ी बोली Khaṛīboli, The true genuine language, i.e. the pure Hindi; Preface."

खरी शब्द के सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त है कि यह एक मनगढ़न्त शब्द है। इसका 'खड़ी' से कोई सम्बन्ध या लगाव नहीं है। खड़ी या खड़ा का भी 'शुद्ध' अर्थ हो सकता है वह इस अर्थ में कि उसमें किसी प्रकार का विकार या मिलावट नहीं है। खड़ा या खड़ी का Genuine अर्थ विचारणीय है। हमारी समझ में खड़ा या खड़ी का यह अर्थ 'खड़ी बोली' की निरुक्ति को बहुत कुछ खोल सकता है और 'खड़ी-खड़ी' को चुनौती भी दे सकता है। इसके अनुसार खड़ी बोली का अर्थ है प्रकृत या ठेठ बोली जो मिश्र या रेखता या पक्की नहीं, प्रत्युत ठेठ वा खड़ी है।

प्रकृत अर्थ को सामने रखकर भी लल्लूजी के कथन की समीक्षा कीजिए और देखिए कि वस्तुतः उसमें कुछ सार है या नहीं--"यामनी भाषा छोड़, दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली में"। दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली की उलझन को सुलझाने के पहले कुछ 'यामनी भाषा' की गाँठ खोलिए। 'यामनी भाषा' का अर्थ क्या है? अरबी या फारसी? नहीं, श्री लल्लूजीलाल के समय में उर्दू यामनी भाषा बन चुकी थी और लोग उसे मुसलमानी या तुर्की कहने भी लगे थे। अतः श्री लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर उर्दू में न लिखकर खड़ी बोली यानी प्रकृत या प्राकृत या ठेठ बोली में लिखा। परन्तु यह प्रकृत बोली परदेशी मुसलमानों की बोली न थी, प्रत्युत दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली थी, जिसमें वहाँ के शिष्ट नागर आपस में बातचीत करते थे। श्री लल्लूजीलाल ने दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली को चुना--कुछ निरी ब्रजभाषा या खालिस देहलवी को नहीं। इसी लिए तो प्रेमसागर में ब्रजभाषापन भी है और देहलवी भी है। गिलकिरिस्त साहब के कथनानुसार--"प्रेमसागर को जो एक बहुत ही ललित ग्रन्थ है लल्लूजीलाल ने, हमारे विद्यार्थियों के लिए हिन्दुस्तानी की शिक्षा के लक्ष्य की पूर्त्ति के निमित्त ब्रजभाषा की सुन्दरता एवं स्वच्छता के साथ खड़ी बोली में अँगरेजी भारत की हिन्दू जनता के बृहत् समुदाय के वास्तविक लाभ की दृष्टि से लिखा है।" 'हिन्दुस्तानी' की शिक्षा के लिए आवश्यक था कि प्रेमसागर की भाषा हिन्दुस्तानी हो और 'हिन्दू जनता' के वास्तविक लाभ के लिए यह आवश्यक था कि उसमें उनके अपने शब्द हों। इसलिए श्री लल्लूजीलाल ने हिन्दुस्तानी का ढाँचा तो लिया, पर तुर्की या पक्की बोली को न लेकर दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली को लिया और उस खड़ी बोली को लिया जो कि न तो संस्कृत थी और न पड़ी ही बल्कि प्रकृत या खड़ी बोली के रूप में सब की वाणी पर चढ़ी थी और दिल्ली-आगरे की हिन्दू जनता में बोली जाती थी और उर्दू-ए-मुअल्ला की खराद से बाहर भी थी। उधर सदल मिश्र ने ब्रजभाषा का पक्ष नहीं लिया। उन्होंने सिर्फ देहलवी की खड़ीबोली को लिया। उनके सामने खड़ीबोली का वह ढाँचा प्रस्तुत था जो पटने में तैयार हुआ था। 'यामिनी भाषा' को उन्होंने भी त्याग दिया। स्वयं गिलकिरिस्त साहब के कथनों से अवगत यह होता है कि उनकी दृष्टि में खड़ी बोली कोई स्वतन्त्र बोली न थी, बल्कि वह वस्तुतः हिन्दुस्तानी की एक ऐसी शैली वा रीति थी कि उसमें अरबी-फारसी के शब्दों का ठीक उसी प्रकार बहिष्कार होता था जैसा लखनऊ की उर्दू में भाषा के शब्दों का। उनका कथन है--"मुझे बड़ा खेद है कि ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली का परित्याग कर दिया गया था। हिन्दुस्तानी की यह विशिष्ट पद्धति या शैली उस भाषा के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही अधिक लाभदायक सिद्ध होती।" प्रत्यक्ष ही खड़ी बोली को हिन्दुस्तानी का एक ढंग या ढर्रा कहा गया है, कोई स्वतंत्र बोली नहीं। हाँ तो डाक्टर गिलकिरिस्त के "खड़ी बोली अथवा हिन्दु-

स्तानी के शुद्ध हिन्दी ढंग" पर ध्यान दीजिए और खड़ी बोली की निरुक्ति को अच्छी तरह स्पष्ट कीजिए।

गिलकिरिस्त की गवाही से अवगत होता है कि "नगरों में, विशेषकर जहाँ मुसलमानों की बस्ती अधिक थी, उर्दू साधारण बोलचाल की भाषा थी; गाँवों में 'भाषा' के ही कुछ भेद प्रचलित थे जब कि हिन्दुओं को, विशेषकर जो मुसलमानों की बस्ती से दूर थे, 'खड़ी बोली' अथवा सरल 'हिन्दुस्तानी' ही रुचती थी।" निश्चय ही इस खड़ी बोली का अर्थ है 'हिन्दवी छुट' या ठेठ हिन्दी, न कि खड़ी-खड़ी कर्कश बोली। खड़ी का ठाढ़ या ठाठ नाम भी मिलता है, पर उसका अर्थ किसी निश्चित भाषा के लिए रूढ़ नहीं होता। हमें ऐसी भाषाओं या बोलियों का पता है जिन्हें दूसरे लोग ठाढ़ कहते हैं। श्री लल्लूजीलाल आगरे की भाषा को ठाढ़ या खड़ी उसकी कर्कशता के कारण नहीं कहते, क्योंकि वही उनकी निजी भाषा थी और अपनी भाषा को कोई इस रूप में याद भी नहीं करता। दूसरे यदि खड़ीबोली का खड़ापन ही लोगों को खटकता तो आज पंजाबी को ही खड़ी बोली का नाम मिला होता न कि दिल्ली-आगरे की मधुर बोली को। अस्तु, हमारा निष्कर्ष है कि खड़ी बोली में खड़ी का अर्थ है प्रकृत या ठेठ जिसे इंशा ने 'हिन्दवी छुट' कहा है। तो आरम्भ में खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दी भाषा की एक शैली-विशेष के लिए ही होता था। पर बाद में धीरे-धीरे उसकी गणना व्रज और अवधी के झमेले के साथ निश्चित रूप से एक देशभाषा या बोली के लिए हो गई। अब खड़ी बोली का प्रयोग उस बोली के लिए स्थिर हो गया जिसे ग्रियर्सन साहब बोल की हिन्दुस्तानी कहते हैं। फलतः इसी अर्थ में खड़ी बोली को हिन्दी भाषा का मूल कहा गया है और इसी अर्थ में अब इसके देश पर विचार करना है। पर भूलना न होगा कि खड़ी बोली का यह अर्थ आधुनिक है और इसका वास्तविक अर्थ है प्रकृत या ठेठ बोली ही। मीर अम्मन देहलवी और श्री लल्लूजीलाल से गिलकिरिस्त साहब ने ठेठ बोली में लिखने को कहा था। इनमें से मीर अम्मन ने तो उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला की ठेठ को चुना और श्री लल्लूजीलाल ने दिल्ली-आगरे की ठेठ को पसन्द किया। फलतः मीर अम्मन स्वतः कहते हैं—"जान गिलकिरिस्त साहब ने हमेशा इक़बाल उनका ज्यादह रहे जब तलक गंगा जमुना बहे लुत्फ़ से फरमाया कि इस क़िस्से को ठेठ हिन्दुस्तानी गुफ्तगू में जो उर्दू के लोग हिन्दू व मुसलमान, औरत मरद, लड़के-बाले, खास व आम आपस में बोलते चालते हैं तरजुमा करो।" अम्मन के 'ठेठ' को सामने रखकर लल्लूजी के 'खड़ी' पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि लल्लूजी का खड़ी से मतलब था प्रकृत या ठेठ, न कि खड़ी-खड़ी या कर्कश परन्तु समय के प्रभाव से आज उसका सांकेतिक प्रयोग हो गया है एक विशिष्ट बोली के लिए ही। अतः अब हमें इस बोली के क्षेत्र को निर्धारित करना है, कुछ इसकी निरुक्ति पर विवाद करना नहीं।

सच पूछिए तो बोल के अर्थ में खड़ी बोली न तो दिल्ली की बोली है और न दिल्ली-आगरे की ही। फिर भी उसके विवेचन में दिल्ली का उल्लेख बराबर और आगरा का कभी-कभी किया ही जाता है। इसका कारण यह है कि श्रीलल्लूजीलाल ने दिल्ली-आगरे का उल्लेख किया था और इस ज़बान का नाम देहलवी बहुत पुराना है भी। उर्दूवाले देहली या देहली के उर्दू-ए-मुअल्ला या मीर अम्मन की 'उर्दू की ज़बान' को ही सनद मानते थे और बात-बात में अह्ले जबान की दुहाई देते थे। इसलिए आगरा के छूट जाने पर भी दिल्ली का बोलबाला रहा और बराबर खड़ी बोली के प्रसंग में उसका उल्लेख होता रहा। दूर की बात जाने दीजिए। अभी डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के इस कथन पर ध्यान दीजिए—"इस पुस्तक में खड़ी बोली शब्द का प्रयोग देहली मेरठ के आस-पास बोली जानेवाली गाँव की भाषा के अर्थ में किया गया है।" इसमें देहली का प्रयोग परम्परा या संस्कारवश किया गया है क्योंकि उक्त वर्माजी ने स्वयं ही कहा है—"खड़ी बोली, निम्नलिखित स्थानों में गाँवों में बोली जाती है। रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून का मैदानी भाग, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग।" स्मरण रहे कि वर्माजी ने इसमें देहली की गणना नहीं की। किन्तु यह उनकी भूल नहीं है, कारण कि वे भी देहली को 'बाँगरू' के भीतर ही रखते हैं। तो अब खड़ी बोली के विषय में लिखते समय संस्कार और संशोधन किस प्रकार उनके मस्तिष्क में द्वन्द्व मचाये हुए थे तनिक इसे भी देख लीजिए। संशोधन का पक्ष है "मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी हिन्दी के ही

रूप खड़ी बोली से वर्तमान साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है।" किन्तु संस्कार का आग्रह है "उर्दू का मूलाधार देहली के निकट की खड़ी बोली है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की भी मूलाधार है।" अन्त में संस्कार विजयी होता है और वर्माजी को कहना पड़ता है "इस समय सर्वसम्मत मत यही है कि उर्दू तथा आधुनिक साहित्यिक हिन्दी दोनों का मूलाधार देहली-मेरठ की खड़ी बोली है।" वर्माजी की भाँति ही भाषा-रहस्य के लेखक भी इसी उलझन में पड़ गये हैं। वे भी देहली को बाँगरू के भीतर गिनते हैं पर खड़ी बोली को 'मेरठ और दिल्ली' की विभाषा कहते हैं। उनका मत है—"मेरठ और दिल्ली की एक विभाषा ने सबको अपने अधीन कर लिया और आज वह आप स्वयं खड़ी बोली, हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से राष्ट्र पर राज्य कर रही है।" कहने की बात नहीं कि खड़ी बोली के प्रसंग में दिल्ली का उल्लेख यों ही कर दिया जाता है, नहीं तो है तो वह बाँगरू की भूमि में। परन्तु उर्दूवाले उर्दू के विवेचन में कभी मेरठ और बिजनौर का नाम नहीं लेते। उनकी मुठभेड़ देहली और लखनऊ को लेकर होती है। आज की उर्दू की जबान लखनऊ की जबान है। देहली की बरबादी के बाद इस नाजनी ने लखनऊ का दामन पकड़ा और उसी की हो रही। पर हिन्दीवालों के लिए खड़ी बोली का एक विकट प्रश्न है। उन्हें उसके क्षेत्र का पता लगाना ही है। ग्रियर्सन साहब ने उसकी जो सीमा ठहराई है उसपर स्वतंत्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है। तो भी यहाँ इतना भर बता देना है कि खड़ी बोली के साथ आगरा, दिल्ली, मेरठ और बिजनौर का जो नाम आ गया है उसका कारण क्या है और क्यों इस प्रसंग में आगरा तथा दिल्ली को छोड़ दिया गया है।

अच्छा, तो सबसे पहले आगरा को लीजिए। श्री लल्लूजीलाल ने तो इसका स्पष्ट उल्लेख किया है, पर मीर अम्मन ने इसका नाम नहीं लिया। किन्तु सहसा इससे यह नहीं कहा जा सकता कि आगरे का उर्दू में कोई योग नहीं। क्योंकि स्वयं मीर अम्मन कहते हैं—"जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारों तरफ के मुल्कों से सब कौम कदरदानी और फ़ैज़रसानी इस खानदानी लासानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुए, लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदी-जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुल्फ, सवाल-जवाब करते एक ज़बान उर्दू की मुकर्रर हुई।" इस अवतरण में यद्यपि आगरे का स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथापि हम इसी के आधार पर आसानी से कह सकते हैं कि मीर अम्मन के विचार में यह 'ज़बान उर्दू' की आगरे में ही मुकर्रर हुई। क्योंकि इतना तो सभी जानते हैं कि अकबर की राजधानी अकबराबाद यानी आगरा थी, कुछ शाहजहानाबाद यानी दिल्ली नहीं। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक आगरा ही मुगलों का केन्द्र था और मुगल ही उर्दू के निर्माता भी थे। निदान मीर अम्मन आगरा के पक्ष में हैं और इस विषय में भी कुछ श्री लल्लूजीलाल के साथ भी हैं। परन्तु इससे कुछ अधिक आगरा को महत्त्व नहीं मिल सकता है। क्योंकि आज भी वह शुद्ध व्रजभाषा का क्षेत्र माना जाता है। अब खड़ी बोली से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। अच्छा, तो आगरे को छोड़ जो दिल्ली को लीजिए तो दिल्ली का छूट जाना खेल नहीं। क्योंकि तभी तो बोल के प्रसंग में भी उसका नाम बराबर बना है। नहीं तो भाषा-विशारदों ने तो उसे बाँगरू का देश बना दिया है और उसकी जगह छीनकर मेरठ, बिजनौर या किसी अन्य भूभाग को दे दी। अन्य से तात्पर्य लाहौर और मुल्तान से भी है। मुल्तान का पक्ष अत्यन्त निर्बल और असाधु है, परन्तु लाहौर का दावा विचारणीय है क्योंकि आरम्भ में लाहौर मुसलिम शासकों का केन्द्र रहा है और आरम्भ की रचनाओं में पंजाबीपन बराबर पाया भी जाता है। एक अँगरेजी विद्वान् ने इसको पुष्ट करने का प्रयत्न भी कुछ कम नहीं किया है और अब तो उर्दू दुनिया न जाने कहाँ तक बढ़ चली है। जो हो, इस प्रकार देहली को छोड़कर कुछ लोग लाहौर की ओर बढ़ रहे हैं, तो कुछ लोग मेरठ-बिजनौर की ओर। बोल को पकड़नेवाले यमुना पार कर रहे हैं तो काव्य को पकड़नेवाले घग्घर को। देखें कब तक इनकी दौड़ रहती है और कौन दिल्ली से अपना पिण्ड छुड़ाकर स्वराज्य प्राप्त कर लेता है। खड़ी बोली और उर्दू का घपला कब तक बना रहता है।

परम्परा कहती है कि देहली हिन्दी का मूल स्थान है। ग्रियर्सन साहब मानते हैं कि योरपीय रोहतक, दुजन, दिल्ली प्रान्त के ग्रामों और करनाल की बोली को 'हिन्दी' कहते हैं और अम्बाला प्रान्त की बोली को स्वयं हिन्दुस्तानी कहते



राधाकृष्ण
(चित्रकार--यू० सी० घोष)



विरहिणी राधा की दशम दशा
(चित्रकार—श्री क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार)

भी हैं। उनका यह भी मत है कि वास्तव में लहँदा और पश्चिमी हिन्दी के बीच में पंजाबी आती है जिसका मूल अस्थिर और अस्पष्ट है। पंजाबी के रूपों को रखकर जो लोग हिन्दी या उर्दू के मूलाधार को लाहौरी बनाना चाहते हैं उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अमीर खुसरो ने लाहौरी को देहलवी से अलग माना है और अबुल्फजल ने तो उसको छोड़ ही दिया है। वह इसलिए कि वहाँ देहलवी समझी जाती है। और दक्षिण के मियाँ बाजन ने तो अपनी जबान को लाहौरी न कहकर 'बज़बान देहलवी' ही कहा है। सारांश यह कि इस ज़बान को कभी लाहौरी नहीं कहा गया है। इसका पुराना और नया, क्या नित्य का नाम 'देहलवी' ही रहा है और आज भी उर्दूवाले इसी नाम को जानते और पहचानते हैं। इस प्रसंग में इतना याद रखना चाहिए कि इस भाषा का सुधार या संस्कार जिस आधार पर किया गया वह पंजाब की वाणी न थी बल्कि उसका सम्बन्ध संयुक्त प्रान्त की वाणी से था। यही कारण है कि बोल के रूप में हिन्दी या हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली देहली से अधिक न मिलकर मेरठी वा द्वाबी से अधिक मिलती है, नहीं तो वास्तव में उसका मूल स्थान देहली प्रान्त ही है। यदि सच पूछिए तो यह हिन्दी भाषा अथवा खड़ी बोली प्राचीन कुरु राज्य या हस्तिनापुर जनपद की बोली है। इस दृष्टि से भी इसका देहलवी नाम उपयुक्त और सार्थक है। कुरु राज्य की राजधानी इन्द्रप्रस्थ में थी और इसी इन्द्रप्रस्थ से देहली का सम्बन्ध है। अब चाहे आप इसे देहलवी कहें चाहे हस्तिनापुरी, चाहे हिन्दुस्तानी कहें चाहे खड़ी बोली, इसका देश वही है जो पहले कुरु देश के नाम से ख्यात था और जिसे राजशेखर ने हस्तिनापुर जनपद कहा है। यदि सर जार्ज ग्रियर्सन भारतीय भावों को जानते और उसके इतिहास की रक्षा चाहते तो हिन्दी भाषा को इस प्रकार की उलझन में नहीं डालते और इस प्रकार उसका वर्गीकरण करते कि उसमें हमें अपना इतिहास साफ दिखाई देता। ग्रियर्सन साहब ने जिसको बाँगरू कहा है और जिसके भीतर देहली की गणना की है उसी को आप 'देहलवी' समझ लें। उसी तरह देहलवी समझ लें, जिस तरह व्रज-भाषा को या अवधी को व्रज तथा अवध या अयोध्या के आधार पर समझते हैं। फिर 'हिन्दुस्तानी' को उसी प्रकार हस्तिनापुरी समझ लें। इन दोनों को किसी एक नाम, 'हिन्दी' से याद करें अथवा सुभीते के लिए भारती या कौरवी कह दें। आपको इस कौरवी के भीतर देहलवी और हस्तिना-पुरी या मेरठी या बिजनौरी रूप मिलेंगे। 'देहलवी' में जो पंजाबी तथा राजस्थानी का पुट है, उसे निकाल देने पर आपको बोल की हिन्दी का पता लगेगा जो निखरकर बहुत कुछ हस्तिनापुरी के रूप में दिखाई देगी और पंजाबी तथा राजस्थानी से न हाथ मिलाकर अवधी से हाथ मिलाना अधिक पसन्द करेगी और उर्दूवाले उसे लखनवी कहने में मग्न होंगे। ऐसा करने पर खड़ी बोली का खड़ापन भी समझ में आ जायगा और किसी प्रकार की क्षति भी न होगी। ग्रियर्सन साहब के लिए भी इस प्रकार का नाम नया नहीं होगा। अपनी भाषा सर्वे में व्रजभाषा को उन्होंने अन्तर्वेदी लिखा भी है जिसे भाषा-रहस्य के लेखक खड़ी बोली के लिए छीनना चाहते हैं। सुनिए, उनका प्रश्न है "क्या इसका नाम अन्तर्वेदी रखना अनुपयुक्त होता?" हमारा उत्तर है, हाँ। वस्तुतः न तो हम व्रजभाषा को अन्तर्वेदी कह सकते हैं और न खड़ी बोली को ही। और अब यदि कह सकते हैं तो व्रजभाषा, खड़ी बोली और कन्नौजी तीनों को ही। अस्तु, हमारी समझ में इसका उचित और सच्चा नाम हिन्दी अथवा देहलवी ही हो सकता है, अन्तर्वेदी या खड़ी बोली कदापि नहीं। यह 'देहलवी' कुरु राज्य की भाषा है। हस्तिनापुर के इसी वंश के शासक भरत के नाम पर इस महादेश का नाम भारतवर्ष पड़ा। अब यदि उन्हीं कुरुओं के नाम पर इसे कौरवी भारती या हिन्दी कहें तो इसमें आश्चर्य क्या? हिन्दी का यह प्रयोग अत्यन्त प्रचलित तथा प्राचीन है, अर्वाचीन या गढ़न्त नहीं। अतः परम्परा-गत 'भाषा' के अर्थ में इसका प्रयोग न करना वंचना और पाखण्ड है, शोध वा सत्यानुरोध नहीं।

१९४४

❋ ❋ ❋

दादाभाई नौरोजी के साथ कुछ दिन

श्रीयुत सन्त निहालसिंह

[अब से बावन वर्ष पूर्व दादाभाई नौरोजी पार्लमेंट के सदस्य चुने गए थे। पार्लमेंटों की जननी 'हाउस आफ़ कामन्स' में बैठने का अवसर पानेवाले ये सर्वप्रथम भारतीय थे। मजेदार बात यह थी कि वहाँ वे भारतीयों की ओर से प्रतिनिधि होकर नहीं गये थे। इँग्लैंड के एक निर्वाचन-क्षेत्र ने उन्हें अपना सदस्य निर्वाचित किया था और पार्लमेंट में वे उसी के प्रतिनिधि के रूप में गये थे। उसके कुछही दिनों बाद अखिलभारतीय राष्ट्रीय महासभा ने उन्हें अपना सभापति चुना था। महासभा का अधिवेशन उस वर्ष पंजाब में हुआ था अतः उसका नेतृत्व करने के लिए दादाभाई पंजाब पधारे थे। इन पंक्तियों का लेखक उन दिनों स्कूल का एक विद्यार्थी मात्र था। उसने उन्हीं दिनों पहले-पहल दादाभाई को देखा और उनका भाषण सुना था। उसके सत्रह वर्ष बाद उसे दादाभाई के साथ दो महीने रहने का भी सुयोग प्राप्त हुआ था। इस लेख में जिन बातों का उल्लेख हुआ है, वे उन्हीं दिनों से सम्बन्ध रखती हैं। इस लेख से ज्ञात होगा कि हमारी राष्ट्रीयता की नींव डालने में हमारे राष्ट्र के आदिनिर्माताओं को, जिनमें दादाभाई भी एक थे, कितना कठिन परिश्रम करना पड़ा था।]

बावन वर्ष पूर्व—जाड़े के दिन हैं और प्रातःकाल का समय। सूर्य की कोमल किरणें सिखों के परम पवित्र स्थान—अमृतसर के हरिमन्दिर—के सुनहले गुम्बजों और मीनारों पर पड़ रही हैं। यह मन्दिर पाँचवें गुरु का बनवाया हुआ है। गुम्बजों और मीनारों की चिकनी और चमकदार सतह से प्रत्यावर्त्तित होकर किरणें बहुरंगी किरणसमूह के रूप में प्रकट होती हुई आँखों में चकाचौंध कर देती हैं, फिर भी वह दृश्य नेत्रों के लिए सुखद है।

मैं उन दिनों स्कूल का एक छात्र हूँ। अपने पिता के साथ-साथ अमृतसरोवर की संगमर्मरनिर्मित परिक्रमा पर चल रहा हूँ। सामने सीढ़ियाँ हैं जिनकी ओर हम अग्रसर हो रहे हैं। 'ये सीढ़ियाँ एक चबूतरे के पास पहुँचाती हैं जो ईंटों का बना है और सरोवर के उस पार बने मन्दिर तथा इस मार्ग के ठीक सामने है। इस उन्नत और खुले स्थान पर सूर्यदेव ने पीला-सुनहला फर्श बिछा रक्खा है जो हमारे ठिठुरे पाँवों को सुखद प्रतीत होता है।

हम घण्टाघर के पास खड़े हो गये। यह बीचो-बीच पड़ा है। हमारे सिर के ठीक ऊपर काफी उँचाई पर चार बड़ी-बड़ी घड़ियाँ हैं। पिताजी ने दृष्टि उठाकर एक घड़ी की ओर देखा और फिर जैसे अपने आपसे ही कहा—'हम समय पर आ गये।'

नगर की ओर से मनुष्यों की एक भारी भीड़ हमारी ओर बढ़ती आ रही है। इसके पूर्व ही कि वह भीड़ हमारे पास पहुँचे और हमें भी अपने में सम्मिलित कर ले, वह दो भागों में विभक्त हो जाती है जिससे बीच में एक चौड़ी दरार पड़ जाती है। इस दरार में एक दुबली-पतली शुभ्रमूर्त्ति के दर्शन होते हैं। अब हम लोग उस कोने की ओर अग्रसर होते हैं जहाँ जूतों के अगणित जोड़े नियमित पंक्तियों में रक्खे हैं। लचीले शरीर का एक काले रंग का जवान, जिसके मुँह पर काले-काले बड़े-बड़े गलमुच्छे हैं, सहसा जूतों के ढेर के पीछे से प्रकट हो जाता है। वह 'मजहबी' है जिसका अभिप्राय यह है कि वह भी सिख है। फिर भी उसे निम्नजन्मा समझा जाता है। वह आगे बढ़ता है और उस शुभ्रमूर्त्ति के 'पेटेंट लेदर शू के ऊपर मोटे-मोटे, भद्दे और बड़े-बड़े मोजे चढ़ा देता है।

पिताजी बतलाते हैं कि वह शुभ्रमूर्त्ति मिस्टर नौरोजी हैं। मैं मनोयोग से मिस्टर नौरोजी की प्रत्येक गति-विधि का अध्ययन करता हूँ। उनके हाथ और मुख दूध की तरह गोरे हैं। उनके सिर पर अँगरेजों की तरह की टोपी नहीं है बल्कि एक लम्बा हैट है जो किसी काली वस्तु से बना है। उस पर पीले बिन्दुओं की अनेक पंक्तियाँ हैं। टोप उनके माथे पर खूब फबता है। कुछ ऊपर चलकर टोप पीछे को मुड़ जाता है।

गर्मियों में तीसरे पहर जिस दूकान पर मुझे रंग-बिरंगे, बर्फ से शीतल, शर्बत पीने को मिलते हैं उसका प्रबन्धक विशेष उत्सवों के अवसर पर रंग-बिरंगी पगड़ी बाँधता है। मुझे

बताया गया है कि वह पारसी है और बम्बई का रहनेवाला है। अपने उस अनुभव के आधार पर इन महाशय के लिए भी मैंने निश्चय कर लिया कि ये भी पारसी हैं और बम्बई से आये हैं। पर शर्बत-सोडावाटर की दूकान का वह पारसी मालिक जैसी अटपटी, अनगढ़ पंजाबी बोलता है, ये तो वैसी भाषा नहीं बोलते। ये तो 'साहब लोगों' की मातृ-भाषा में बातचीत कर रहे हैं। कुछ दिनों से अपने पिताजी की शिष्यता में मैं भी उस भाषा पर अधिकार करने का उद्योग कर रहा हूँ इसलिए इनकी बातचीत में से मैं दो-एक शब्द समझ भी लेता हूँ, जिन्हें कि मैं पढ़ चुका हूँ और उसका सम्बन्ध अपनी कल्पना के सहारे उन अगणित शब्दों से जोड़ने का प्रयत्न करता हूँ जिनको अभी तक मैंने नहीं सीख पाया है।

ये आगन्तुक महाशय नौरोजी कौन हैं, यह समस्या थोड़ी ही देर में सुलझ गई। पिताजी ने बतलाया "ये पारसी हैं, पर बम्बई में न रहकर लन्दन में रहते हैं। वहाँ से व्यापार करते हैं और कुछ और भी। पिछले दिनों ये कौंसिल में चुने गये हैं। कौंसिल वैसी ही होती है जैसी अपने यहाँ के टाउनहाल की कौंसिल है। अन्तर केवल यह है कि इंग्लैंड की वह कौंसिल टाउनहाल की कौंसिल से बड़ी भी है और महत्त्वपूर्ण भी। उसका नाम है, 'हाउस ऑफ कामन्स'। वह पार्लमेंट का ही एक भाग है। शायद किसी दिन तुम्हें भी उसके देखने का सुयोग मिले।

"उस कौंसिल में अँगरेज ही बैठते हैं। (पिताजी का अभिप्राय 'इंग्लिश' लोगों से था, पर उसके कई वर्ष पीछे मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि वहाँ जो लोग बैठते हैं वे सब के सब इँग्लिश ही नहीं होते। उनमें कुछ 'स्काट', कुछ 'वेल्श' और कुछ 'आइरिश' भी होते हैं।) ये पारसी महानुभाव जो अभी-अभी यहाँ से गये हैं अकेले ऐसे भारतीय हैं जिन्हें वहाँ, उन लोगों के साथ बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और वह भी पिछले कुछ दिनों से ही। 'इँग्लिशों' ने इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर वहाँ भेजा है। वे लोग इन पर इतना विश्वास करते हैं जितना अपनी जाति के प्रतिनिधि पर भी नहीं करते। इस विश्वासपात्रता का निर्णय एक प्रतियोगिता-द्वारा हुआ था जिसमें दादाभाई ने अपने एक अँगरेज प्रतिद्वन्द्वी को परास्त किया था।"

उससे पूर्व अँगरेज के सम्बन्ध में मेरी यह धारणा थी कि उसे कभी कहीं और कोई हरा ही नहीं सकता। वह अजेय है। वह अपराजेय है। वह सब को, सभी कहीं और सर्वदा हरा सकता है। पर उस दिन से मेरी वह धारणा बदल गई। उस भारतीय के प्रति मेरी पूर्ण आस्था हो गई जो किसी अँगरेज को, उसके अपने खेल में उसी के घर पर हराने की क्षमता रखता है।

दादाभाई नौरोजी उस दिन से मेरी दृष्टि में भारतीयों में सर्वश्रेष्ठ—सर्वोपरि—हो गये।

(२)

उस घटना को १७ वर्ष व्यतीत हो गये हैं। मैं भूगोल का पूरा चक्कर लगा चुका हूँ। योरप और अमरीका के कुछ पत्रों ने, जिनमें मैं उन दिनों लेख छपाता रहा हूँ, अपना प्रतिनिधि बनाकर मुझे भारत भेजा है। अब मुझे अपनी मातृभूमि में भ्रमण करना है और किसी भी व्यक्ति, आन्दोलन या स्थान के सम्बन्ध में, जिसमें मुझे दिलचस्पी हो, उन पत्रों के लिए लेख लिखना है।

मेरे साथ मेरी पत्नी है—मेरे समान ही लेखिका, पर जन्म और नस्ल से अमरीकन। उसके लिए भारत-भ्रमण का यह पहला अवसर है। वह भारत को प्यार करती है और यहाँ के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन में काफ़ी समय लगा चुकी है।

पंजाब और युक्तप्रान्त का भ्रमण समाप्त कर हम बम्बई पहुँचते हैं और वहाँ के एक होटल में जो नया ही खुला है और शहर के सब से सुन्दर भाग में है, जाकर ठहरते हैं।

जो व्यक्ति मुझसे मिलने आते हैं उनमें एक पारसी भी हैं। वे रुई की मिलों को मशीनें सप्लाई करने का व्यापार करते हैं। होटल के निकट ही उनका दफ़्तर है। उन्हें लोग होमी एम० दादीना कहते हैं। उनके जीवन का प्रारम्भिक भाग इँग्लैण्ड में व्यतीत हुआ है जहाँ उन्होंने वस्त्र बुनने की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त की है।

साधारण से परिचय के बाद एक दिन वे मुझसे कहने लगे, "चलकर मेरे यहाँ ठहरिए न। आपको अतिथि के रूप में पाकर माकी को भी ऐसी ही प्रसन्नता होगी जैसी मुझे हुई है। और दाद को भी!"

माकी उनकी पत्नी और दाद उनके ससुर—माकी के पिता—दादाभाई नौरोजी—सन् १८९३ से मेरे चरित-नायक और मेरी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ भारतीय। उनका नाम सम्भवतः मेरे प्रलोभन के लिए पर्याप्त है। मेरे लिए उससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है?

(३)

जिस गृह में मुझे ठहराया गया है वह लकड़ी का बना है। यह लकड़ी किसी जहाज से ली गई होगी जो कभी लहरों पर तैरा करता था। बम्बई की खाड़ी का दृश्य यहाँ से बहुत सुहावना प्रतीत होता है। छोटे-छोटे द्वीप जो पश्चिम के उन अधिक प्रसिद्ध और प्रज्ञापित मूँगे के द्वीपों से अधिक हरे-भरे हैं, इसके चौड़े नीले वक्ष पर स्तनाग्र से दिखाई देते हैं। हरी घास से ढकी भूमि पर, जिसके ऊपर पंखों की जैसी नारियल की पत्तियाँ चट्टानों से टकराकर आनेवाली विक्षिप्त लहरों के साथ तैरती हैं, मछुओं के जाल बिछे हैं, जिनमें से समुद्री उपज अभी-अभी अलग कर ली गई है। 'फ़ेस पाउडर' जैसी चिकनी और मुलायम बालुका ने घर और खाड़ी के बीच रुपहले व्यवधान का निर्माण कर रक्खा है। दादीना ने इसका नाम 'बालुका' रख छोड़ा है जो असंगत प्रतीत होता है।

दादीना-दम्पति के अनुकरण में मैं भी अब वृद्ध महामहिम को दाद कहने लगा हूँ। वे अब अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। इस सुन्दर गृहस्थी के बीच वे अब शान्ति से अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। वे घर पर भी रहते हैं और बाहर भी घूमने चले जाते हैं। माकी अत्यन्त सहृदय है। वह प्रतिदिन सवेरे एक ताजा धुला हुआ 'पाजामा-सूट' निकाल देती है। घूमने के लिए जाते समय दाद उसे पहन लेते हैं। रात को आराम करने जाते समय फिर वैसा ही दूसरा सूट उन्हें दिया जाता है। पैरों में दिन में मोज़े प्रायः नहीं पहनते। पैरों में 'पेटेंट लेदर' के 'पम्प' पहना दिये जाते हैं जिन्हें देखकर मुझे उन जूतों की याद आ जाती है जिन्हें वे उस दिन पहने थे, जब मैंने उन्हें पहले-पहले देखा था।

निकटतम रेलवेस्टेशन—अँधेरी—घर से ढाई मील के फ़ासले पर है। बम्बई के मध्य से उक्त स्टेशन १८-२० मील है। अतः इधर घूमने के लिए ही बहुत कम लोग आते हैं। 'बालुका' के कपाटों पर किसी दर्शक की प्रतिच्छाया कदाचित् ही पड़ती है। केवल दोपहर के बाद जब धूप के कारण वायु में उष्णता आ जाती है, दाद घर से बाहर जाते हैं—आधे घण्टे के लिए।

एक चार पहियोंवाली खुली गाड़ी, जो विशेषतः उसी कार्य के लिए रक्खी गई है, द्वार के सामने ठीक समय पर आकर लग जाती है। पुराना विश्वासपात्र कोचवान है और उसी से मिलता-जुलता घोड़ा। गाड़ी पर चढ़ने से पहले दाद घोड़ों को चुमकारते-पुचकारते हैं।

प्रायः प्रतिदिन भ्रमणार्थ बाहर जाने से पहले दाद मेरी पत्नी से पूछते हैं—"थोड़े-से निष्क्रिय व्यायाम के विषय में क्या विचार है?"

मेरी स्त्री उत्तर देती है—"पूर्वं वृद्धास्ततः स्त्रियः।"

"मैंने ऐसा नहीं पढ़ा है।" दाद प्रत्युत्तर देते हैं और तब तक गाड़ी में पैर नहीं रखते जब तक वह गाड़ी में आराम से बैठ नहीं जाती।

हम लोग टहलते-टहलते एकतार तक जाते हैं। एकतार हमारे घर और स्टेशन के बीचोबीच स्थित है। वहाँ सड़क के किनारे एक अकेला ताड़वृक्ष खड़ा है, जिसके कारण उस स्थान का यह नाम पड़ गया है।

आज बुड्ढा कोचवान बहुत परेशान है। उसने ताड़वृक्ष की जड़ में कई काले साँप देखे हैं। आज सवेरे वह होमी को पहुँचाने स्टेशन गया था। वहाँ से लौटते हुए जब वह एकतार पहुँचा तब उसे साँप दिखाई दिये। कुशल यह हुई कि उसने साँपों की चर्चा वृद्ध महोदय से नहीं की।

वह तीसरा पहर मुझे अब तक स्मरण है। किसी कारण-वश दाद को अपने बचपन के दिन याद आ गये। उनका कथन है कि उन्हें उस समय की घटनाओं की ठीक-ठीक याद है जब वे चार वर्ष के थे।

उन्होंने सुनाया, "साधारणतः बुढ़ापे में मस्तिष्क शैशव की ओर लौटता है। जो घटनायें कई साल पूर्व हो चुकी हैं वे ब्योरेवार याद आती हैं। साथ ही जो बातें दो-एक दिन पहले की हैं, वे याद नहीं रहतीं। मस्तिष्क उन्हें निकाल देता है। पर मेरे विषय में यह बात नहीं है। पिछले ७० वर्ष में जो कुछ हुआ है वह मुझे ठीक-ठीक स्मरण है। मैं वस्तुतः भाग्यशाली हूँ। मैंने ४ सम्राट् देखे हैं। जब मैं पैदा हुआ था तब विलियम चतुर्थ राजसिंहासन पर थे। उनके बाद महारानी विक्टोरिया ने काफी लम्बे समय तक राज्य किया। उनके बाद एडवर्ड गद्दी पर बैठे। अब जार्ज राज्य कर रहे हैं।

(४)

इस एकान्त-शान्त स्थान में एकान्त और शान्त जीवन व्यतीत करते हुए 'दाद' के हृदय में कभी-कभी कैसा कोलाहल होने लगता है। जब कभी मैं उनके साथ उनके कमरे में जो छत पर है, या घर के सामनेवाले चौड़े चबूतरे पर माकी

की नौकरानी जीवी-द्वारा बिछाई हुई नीची आरामकुर्सियों पर बैठा होता हूँ तब वे मुझसे प्रायः उन बातों के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं जो उन्हें किसी ने बताई थीं या जिनके सम्बन्ध में उनका अपना अनुभव है। वे धीरे-धीरे बात करते हैं फिर भी उनका कण्ठस्वर घण्टी की भाँति स्पष्ट और मुखरित रहता है।

जिस क्षण मैं समझता हूँ कि ज्वारभाटा पूरे ज़ोर पर है, वे कहते हैं, "तुम देख रहे हो कि ज्वारभाटा ज़ोर पर है। कल्पना करो कि एक मनुष्य उस लहर पर बैठा है और उसके हाथ-पैर बाँध दिये गये हैं, जिससे वह उस स्थान से हट नहीं सकता। कोई उससे कहता है, 'इस तूफानी समुद्र का सामना करने की शक्ति तुममें नहीं है। एक छोटी-सी तलैया तक में घुसने का साहस तुममें नहीं है जो इस क्षुब्ध उदधि की तुलना में नितान्त नगण्य है। तुम्हें तैरना नहीं आता।' यह कहकर वह शृंखलाओं से जकड़े उस मनुष्य का उपहास करता है।

"क्या यह उपहास सभ्योचित है—उस मनुष्य का उपहास जिसके हाथ-पैर बँधे हुए हैं? उससे यह कहना कि तुम्हें तैरना नहीं आता—न तैर सकने के लिए उसकी हँसी उड़ाना—क्या उचित है? तुम्हीं बतलाओ!"

उनकी आवाज़ क्रमशः ऊँची हो उठती है। वह काँप उठती है। किसी वस्तु ने उनके अभ्यन्तर को बहुत अधिक आन्दोलित कर दिया है।

इस उत्तेजितावस्था का विरोध करती हुई मेरी पत्नी कहती है—"आज दाद को शायद ही रात को नींद आये।"

मैं साँस रोके प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि मामला अब कुछ शान्त होता है, अब शान्त होता है। अन्ततः वातावरण शान्त हो जाता है। वे कहते हैं:—

"भारत की अवस्था उस शृंखलाबद्ध मनुष्य की-सी है जो लहरों पर बैठा है। कहा जाता है कि वह स्वयं अपना शासन नहीं सँभाल सकता। बात सच है। जब तक उसके हाथ-पैर जंजीरों में जकड़े हैं, वह कैसे शासनकार्य चला सकता है? उसे अपना राज्य सँभालने के लिए सबसे पहले बन्धनमुक्त होना चाहिए।"

"निस्सन्देह, सत्य वचन", साथ ही साथ हम दोनों के मुँह से निकलता है।

वे फिर कहते हैं, "देखो, हमने एक योजना बनाई थी। सब दृष्टियों से पूर्ण थी। सिविल सर्विस की परीक्षायें लन्दन में होती हैं। मेरी योजना थी कि वे उसी समय पर भारत में होने लगें। यह सर्वथा सम्भाव्य था।

"मैं उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में रहा। बहुत समय प्रतीक्षा में चला गया फिर भी मैं हताश नहीं हुआ। अन्त में अवसर आया और मैंने उससे लाभ उठाया।

"एक समय ऐसा आया जब पार्लमेंट में मेरे विश्वास-भाजनों का बहुमत हो गया। मैंने अपना प्रस्ताव उपस्थित कर दिया जिसमें भारत में समकालिक सिविल सर्विस की परीक्षाओं की माँग थी। 'हाँ' की संख्या 'नहीं' से बहुत अधिक हो गई।

"पर तुम्हें विश्वास नहीं होगा कि सरकार को कुछ भी स्वीकार नहीं हुआ।"

"क्या अनुदार दल की सरकार थी?"

"अनुदार दल की! नहीं नहीं! मेरे अपने पक्ष की! देखते नहीं कि 'लिबरल' 'कंजर्वेटिवों' की अपेक्षा 'रोटी और मछली' त्यागने के लिए अधिक इच्छुक नहीं हैं। उनमें से छोटे से छोटे मनुष्य की भी यही माँग है कि भारत उनकी सन्तानों के लिए कार्यक्षेत्र प्रस्तुत करता रहे।

"फिर भी वे हमारी स्वशासन-सम्बन्धी अयोग्यता की हँसी उड़ाने से बाज़ नहीं आयेंगे। वे हमें स्वशासन का एक भी अवसर देने को तैयार नहीं हैं। इस अनौचित्य-पूर्ण व्यापार पर दया आती है। वे हमारे स्वशासन को असम्भव करने के लिए निर्बाध हैं।"

'विचित्र परिस्थिति है।' मेरे मुँह से निकल जाता है।

'बात यहीं तक नहीं है।" कहते-कहते महानुभाव का हिमगौर मुख क्रोध से लाल हो उठता है। "हमारी पार्टी के अधिनेता इतने असन्तुष्ट हो गये कि उन्होंने आगामी चुनाव में मेरी सहायता नहीं की। फिर भी मैं खड़ा हो गया। पर मैं जा न सका। यह प्रायः पहले से ही निश्चित था।

"मैंने अपनी मातृभूमि की सेवा करने का प्रयत्न किया था। मेरे इस अपराध को वे क्षमा न कर सके। वह घटना फिर उन्हें कभी न भूली। उन्हें विश्वास हो गया कि मैं उनके इशारों पर नाचनेवाला राजनीतिज्ञ नहीं रह सकता।"

आज इन पंक्तियों को लिखते समय मुझे उनका वह चेहरा स्पष्ट हो उठता है जिस पर निर्ममता के अनेक लम्बे लम्बे लेख थे। उस अनुभव का लाभ उठाने के लिए